# जैन शतक

महाकवि भूधरदास

महाकवि भूधरदास द्वारा रचित

# जैन शतक


सम्पादक एवं अनुवादक

**डॉ० वीरसागर जैन**

व्याख्याता एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-११० ०१६



प्रकाशक

**श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई**

**एवं**

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

**ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५ (राज०)**

| | | |
|---|---|---|
| **प्रथम तीन संस्करण** | : | 8 हजार |
| (6 मार्च, 1990 से अद्यतन) | | |
| **चतुर्थ संस्करण** | : | 1 हजार |
| (9 मार्च, 2010 ऋषभदेव जयन्ती) | | |
| **योग** | : | **9 हजार** |

मूल्य : **छह रुपये**

मुद्रक :

**मन् एन सन् प्रेस**

तिलकनगर, जयपुर (राज.)

**JAIN SHATAK by MAHAKAVI BHOODHARDAS**
Translated by **Dr. Veer Sagar Jain**
Published by Pt. Todarmal Smark Trust
A-4, Bapunagar, Jaipur-302015 (Raj.) India

# प्रकाशकीय

महाकवि भूधरदासजी द्वारा रचित 'जैन शतक' का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

महाकवि भूधरदासजी हिन्दी के जैन कवियों में अग्रगण्य हैं। जैन शतक देखने में छोटी कृति प्रतीत होती है पर कवि ने मानों गागर में सागर भर दिया है। प्रस्तुत कृति में 107 कवित्त, दोहे, सवैये और छप्पय हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से काव्य रचना बेजोड़ है।

प्रस्तुत कृति का सम्पादन एवं अनुवाद कार्य श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय के भू.पू. छात्र डॉ. वीरसागर जैन, व्याख्याता एवं अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा किया गया है। उन्होंने सम्पादन एवं अनुवाद करने में अत्यधिक श्रम किया है, इसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

कृति को आकर्षक कलेवर में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को जाता है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मुद्रण कार्य के लिए जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर के पार्टनर श्री प्रमोदकुमार जैन का सहयोग भी सराहनीय है। पुस्तक की कीमत कम करने में जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग दिया है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। आप सभी इस कृति के माध्यम से अपने भव का अभाव करें, इसी कामना के साथ –

*महामंत्री*
**श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल**
**मुम्बई**

*महामंत्री*
**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
**जयपुर**

## प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

| | | |
|---|---|---|
| 1. | श्री केवलचन्दजी जैन, ललितपुर | 151.00 |
| 2. | श्रीमती चन्दा टड़ैया, ललितपुर | 150.00 |
| 3. | श्री सुभाष चौधरी, ललितपुर | 101.00 |
| 4. | श्री मनोहर पटवारी, ललितपुर | 101.00 |
| 5. | श्री नाथालालजी जैन, ललितपुर | 101.00 |
| 6. | श्री कपूरचन्द महेन्द्रकुमारजी जैन, महरौली | 100.00 |
| 7. | श्रीमती विद्याबाई जैन, गुना | 100.00 |
| 8. | श्रीमती शीलाबाई उमरिया, ललितपुर | 100.00 |
| 9. | डॉ. कमल श्रीनायक, ललितपुर | 100.00 |
| 10. | श्री श्यामलालजी जैन, ग्वालियर | 100.00 |
| | **कुल राशि** | **1,104.00** |

# 'जैन शतक' के गद्यानुवाद की कहानी
## ( प्रथम संस्करण से )

आज से लगभग डेढ़ वर्ष पहले मैंने श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, अलवर (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित 'जैन शतक' पुस्तक का स्वाध्याय किया था। यह पुस्तक मुझे बहुत ही अच्छी लगी। मैंने इसका बार-बार स्वाध्याय किया। इसके अनेक छन्द मुझे अपने ही आप कंठस्थ हो गये। मैं उन्हें जब-तब रस ले-लेकर खूब गुनगुनाने लगा, अपने सम्पर्क में आने वाले प्राय: हर व्यक्ति को सुनाने-समझाने लगा, यहाँ तक कि अपने शास्त्र-प्रवचनों में भी उद्धृत करने लगा और इसप्रकार, मैं इस 'जैन शतक' से बहुत प्रभावित हो उठा। या यों कहिए कि मैं 'जैन शतक' का 'दीवाना' ही हो गया।

इससे मेरे अनेक प्रिय मित्रों और धर्मानुरागी श्रोताओं को 'जैन शतक' के अध्ययन की प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई। मैं उन्हें अलवर से प्रकाशित 'जैन शतक' देता। परन्तु यह बहुत ही साधारण रूप से छपा था। इसमें छन्दों का सरलार्थ तो दूर, किन्तु मूल छन्दों का मुद्रण भी सही रीति से नहीं हुआ। छन्दों के सभी (चारों/छहों) चरण एक-दूसरे के साथ घुले-मिले हुए थे। ऐसा लगता था, मानों गद्य हो। इसलिए कोई भी सामान्य पाठक उनका अर्थ समझना तो दूर, उन्हें ठीक तरह से गा भी नहीं पाता था।

ऐसी स्थिति में मेरे मित्रों और श्रोताओं की प्रबल भावना हुई कि इस पुस्तक का पुनर्प्रकाशन ऐसा होना चाहिए जो सुन्दर और सुव्यवस्थित तो हो ही, उसमें प्रत्येक छन्द का प्रामाणिक अर्थ भी हो। उन्होंने इसके लिए मुझसे आग्रह किया। मेरी भी कुछ-कुछ इच्छा तो थी ही, परन्तु अन्य अध्ययन में व्यस्त होने के कारण उसमें साकार होने की क्षमता नहीं थी; मित्रों और श्रोताओं के आग्रह से वह क्षमता प्राप्त हुई। फलस्वरूप दि. ३०-३-९८ को मैंने इसके पहले छन्द का अर्थ लिख लिया। शनै: शनै: गाड़ी आगे बढ़ निकली और लगभग छह माह में सरलार्थ-लेखन का कार्य करीब-करीब पूरा हो गया।

इस अवधि के बीच मुझे 'जैन शतक' के दो पुराने संस्करण और प्राप्त हुए। एक था दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत का और दूसरा था दिगम्बर जैन धर्म

पुस्तकालय, अनारकली, जैन गली, लाहौर का। ये दोनों संस्करण अलवर वाले संस्करण की अपेक्षा कई गुना अच्छे हैं। इन दोनों संस्करणों में प्रत्येक छन्द का अर्थ भी दिया गया है। सूरत वाले संस्करण का अर्थ — जिसे वहाँ 'भावार्थ' कहा गया है — पण्डित ज्ञानचन्द्रजी जैन 'स्वतंत्र' ने लिखा है और लाहौर वाले संस्करण का अर्थ बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैनी ने लिखा है।

परन्तु पहली बात तो यह है कि ये दोनों ही संस्करण आज बिल्कुल अनुपलब्ध हैं। सूरत वाला संस्करण सन् १९४७ ई. में छपा था और लाहौर वाला संस्करण सन् १९०९ ई. में छपा था।

दूसरी बात — इन दोनों संस्करणों के प्रकाशन में भी सुन्दरता और सुव्यवस्था तो है ही नहीं, छन्दों के अर्थों में भी कहीं-कहीं बड़ी भूलें और कमियाँ रह गई हैं, जो काव्य की गरिमा को भी कम करती हैं और ग्रन्थकार के मूल अभिप्राय को भी सही-सही नहीं समझातीं। उदाहरण के लिए छन्द-संख्या ३१ की यह पंक्ति देखिये :—

**''मानुषभौ मुकताफलहार, गँवार तगा-हित तोरत यौं ही॥''**

इसका सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि 'मनुष्यभव मोतियों का हार है जिसे अज्ञानी प्राणी मात्र धागे के लिए व्यर्थ ही तोड़ रहा है — नष्ट कर रहा है'। किन्तु सूरत वाले संस्करण में इसका अर्थ छपा है कि 'मनुष्य की पर्याय मोतियों के हार (माला) जैसी है, मूर्ख इसके तागे को व्यर्थ ही तोड़ रहा है।' यह अर्थ बिल्कुल गलत है। धागा नहीं तोड़ा जा रहा है, बल्कि धागे के लिए मोतियों का हार तोड़ा जा रहा है।

इसीप्रकार छन्द-संख्या ४८ की यह आधी पंक्ति देखिये :—

**'बुध संजम आदरहु'**

इसका अर्थ एकदम स्पष्ट है कि 'ज्ञानपूर्वक संयम का आदर करो', किन्तु सूरत वाले संस्करण में इसका अर्थ छपा है कि 'बुधजनों की संगति करो'। पता नहीं इतना सरल अर्थ भी उसमें इतना गलत क्यों छपा है?

एक नमूना और देखिये। छन्द-संख्या ५४ की अन्तिम पंक्ति है :—

**'गनिका सँग जे सठ लीन रहैं, धिक है धिक है धिक है तिनकौं।'**

इसका अर्थ सूरत वाले संस्करण में छपा है कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उनके लिए तीन बार धिक्कार है।'

इस अर्थ को जरा मूल छन्द से मिलाकर देखिये। मूल छन्द में तीन बार 'धिक' शब्द का प्रयोग हुआ है इसलिए अनुवादक ने लिख दिया 'तीन बार धिक्कार है'; परन्तु यह नहीं सोचा कि 'धिक्' शब्द के साथ कवि ने हर बार 'है' क्रिया का प्रयोग क्यों किया है? क्या एक बार 'है' लिखने से काम नहीं चलता था?

अत: वास्तव में इसे इसप्रकार लिखना चाहिए कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उन्हें धिक्कार है, धिक्कार है, धिक्कार है' अथवा इसप्रकार लिखना चाहिए कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उन्हें बारम्बार धिक्कार है।' तीन बार लिखना बहुत बार का सूचक मानना चाहिए, क्योंकि तीन की संख्या एकवचन और द्विवचन की कोटि से निकलकर बहुवचन की कोटि में पहुँच जाती है।

अब आप छन्द-संख्या ५९ की अन्तिम पंक्ति और देख लीजिए। यहाँ कैसा अनर्थ हो रहा है! पंक्ति है :—

**'धनि जीवन है तिन जीवनि कौ, धनि माय उनैं उर मांय वहैं॥'**

इसका उचित अर्थ यह है कि 'धन्य है उन (शीलव्रत के धारक या सदाचारी) जीवों का जीवन और धन्य हैं वे माताएँ भी जिन्होंने उन जीवों को अपने उर (गर्भ) में धारण किया।'

किन्तु सूरतवाले संस्करण में छपा है कि 'उन्हीं का जीवन धन्य है और वे ही हृदय में धारण करने योग्य हैं।'

कितनी बड़ी भूल रह गई है! ग्रन्थकार कवि तो सदाचारी पुरुषों की माताओं को भी धन्यवाद देना चाहते हैं, परन्तु अनुवादक ऐसा नहीं करते। पता नहीं क्यों?

इसीप्रकार से कई छन्दों में अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों के अर्थ ही छोड़ दिये हैं। छन्द-संख्या ९६ में 'इस अपार जगजलधि' का अर्थ मात्र 'संसाररूपी सागर' किया है। 'इस' और 'अपार' — इन दोनों शब्दों का अर्थ ही नहीं किया है।

'जैन शतक' का दूसरा संस्करण — जो लाहौर से बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैनी ने प्रकाशित करवाया है — सूरतवाले उक्त संस्करण की अपेक्षा बहुत उत्तम है। वह अर्थ की दृष्टि से इतना कमजोर नहीं है। उसके अर्थ करीब-करीब ठीक ही लिखे गये हैं। किन्तु उसमें भी कुछ भूलें बड़ी बुरी हुई हैं। उदाहरण के लिए छन्द-संख्या ९७ देखिये :—

**'मिथ्यामत के मद छके, सब मतवाले लोय।**
**सब मतवाले जानिए, जिनमत मत्त न होय॥'**

इसका अर्थ छापा गया है कि 'मिथ्यामतरूपी मद से छके हुए सब मतवाले लोग उन्मत्त हैं। सब ही को मस्त जानों, परन्तु जैनमत में मस्ती नहीं है।'

यहाँ 'सब ही को मस्त जानों, परन्तु जैनमत में मस्ती नहीं है' — ऐसा कहना कुछ जँचता नहीं है। इससे जैनमत की महिमा समाप्त हुई सी लगती है। ऐसा लगता है मानों अन्य सभी मतों को माननेवाले आनन्द में हैं, परन्तु जैनमत में आनन्द नहीं है। ऐसा अर्थ ग्रन्थकार कवि को बिल्कुल इष्ट नहीं है। अतः इसे यों कहना चाहिए कि 'अन्य मतों को माननेवाले सभी लोग मतवाले हो रहे हैं, परन्तु जैनमत में मतवालापन नहीं है।'

लाहौर वाले इस संस्करण में दूसरी सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके अनुवाद की भाषा बहुत टेढ़ी है; क्योंकि वह ८० वर्ष पूर्व लिखी गई थी, जब कि खड़ी बोली हिन्दी गद्य अपने परिष्कार के प्रारम्भिक चरण ही नाप रहा था। उसकी भाषा में न तो वाक्य-विन्यास ही सुव्यवस्थित है, न शब्दों के रूप ही व्याकरणसम्मत हैं, और वाक्य अनावश्यक रूप से बहुत बड़े-बड़े भी बन गये हैं जो खूब उलझ गये हैं। उदाहरणार्थ पहले ही छन्द का अर्थ पढ़िये :—

''चार ज्ञान कहिये मति श्रुत अवधि मनःपर्यय इन चार ज्ञान रूपी जहाज में बैठकर श्री गणधरदेव भी जिस प्रभु के गुण रूपी समुद्र को नहीं तिर सके अर्थात् पार न पा सके और देवताओं के जो कहीं खोटे कर्म की लकीर बाकी थी उसके दूर करने के वास्ते जिस प्रभु को देवताओं के समूह ने जमीन पर सिर घस-घस कर प्रणाम करी है ऐसे कौन श्री ऋषभदेव स्वामी उनके आगे हम हाथ जोड़ कर उनके चरणों में पड़ते हैं।''

यहाँ आप देख रहे हैं कि यह पूरा का पूरा एक ही वाक्य है, इसमें कहीं एक अल्पविराम या अर्द्धविराम भी नहीं है। इसके अतिरिक्त 'कहिए', 'अर्थात्', 'वास्ते', 'ऐसे कौन' इत्यादि शब्दों के कारण जो दुर्बोधता और वक्रता आई है सो अलग।

ये ही उपर्युक्त स्थितियाँ हैं जिनके कारण मैंने 'जैन शतक' के छन्दों का नये सिरे से गद्यानुवाद लिखा है।

गद्यानुवाद के समय मुझे इन छन्दों के अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषार्थ भासित हुये हैं तथा कई छन्दों या छन्दांशों के अर्थ भी अनेक-अनेक भासित हुये हैं, किन्तु यहाँ एक सामान्य सरलार्थ ही दिया जा सका है। विशेष कभी भविष्य में देने का प्रयास करूँगा।

यह गद्यानुवाद मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार ही नहीं किया; अपितु उसमें डॉ. सीताराम लालस, रामचन्द्र वर्मा, वामन शिवराम आप्टे, मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाह' आदि द्वारा सम्पादित प्रामाणिक शब्दकोशों की भी पूरी सहायता ली है और विषय के अधिकारी विद्वानों से भी परामर्श किया है।

बालब्रह्मचारी पण्डित संतोषकुमारजी झाँझरी को — जो श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरापंथियान, घी वालों का रास्ता, जयपुर में विगत २७ वर्षों से नियमित रूप से शास्त्र-प्रवचन करते हैं और चारों अनुयोगों के अच्छे अभ्यासी हैं — इस 'जैन शतक' के पूरे छन्द बचपन से ही कंठस्थ हैं। वे इन्हें यदा-कदा अपने प्रवचनों में भी बड़े प्रभावी ढंग से उद्धृत करते हैं।

मैंने इन छन्दों का यह अर्थ उन्हें भी दिखाया है। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म भूलों को भी दूर करा दिया है। मैं उनका आभार कैसे व्यक्त करूँ — समझ में नहीं आता। फिर क्या आभार व्यक्त कर देने मात्र से उऋण हो जाऊँगा।

इसप्रकार मैंने इन छन्दों का अर्थ लिखने में यद्यपि पूरी सावधानी रखी है, तथापि निश्चित रूप से यह कैसे कह सकता हूँ कि अब इसमें कहीं कोई एक भी गलती नहीं रही है। संभव है कोई भूल रह गई हो। विद्वानों से मैं विनम्रतापूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे अवश्य मुझे उससे अवगत करावें। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ तो होऊँगा ही, अगले संस्करण में उन भूलों को ठीक भी करूँगा।

यहाँ मैं एक निवेदन और विशेष रूप से करना चाहता हूँ कि यद्यपि यहाँ छन्दों के साथ अनुवाद भी प्रकाशित किया जा रहा है, किन्तु यदि आप मूल छन्दों को ही बार-बार पढ़कर इस कृति का आनन्द लेंगे तो बहुत अच्छा रहेगा; क्योंकि जो भाव, जो सरसता, जो गरिमा और जो चमत्कार आदि भूधरदासजी के मूल छन्दों में है, वह अनुवाद में कहाँ? अनुवाद में वह सब आ भी नहीं सकता। अनुवाद तो हमारी मजबूरी हुआ करती है।

अत: अनुवाद को बार-बार पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। बार-बार तो आप मूल छन्दों को ही पढ़िये। हाँ, पहले एक बार अनुवाद को पढ़कर उनका अर्थ अवश्य समझ लीजिए।

अन्त में, 'जैन शतक' का स्वाध्याय सबके जीवन में मंगलकारी हो — इस शुभकामना के साथ मैं अपनी बात पूर्ण करता हूँ।

दि. : २० फरवरी, १९९० ई. — वीरसागर जैन

# 'जैन शतक' के तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रिय पाठको,

प्रस्तुत 'जैन शतक' का तृतीय संस्करण आपके समक्ष आ रहा है और वह भी पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जैसी प्रतिष्ठित संस्था से प्रकाशित होकर - यह बहुत प्रसन्नता की बात है। इसका प्रथम संस्करण आज से लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, भिण्ड (मध्यप्रदेश) से प्रकाशित हुआ था और वह अब अप्राप्य चल रहा है।

'जैन शतक' के प्रस्तुत तृतीय संस्करण में यद्यपि नया कुछ अधिक नहीं है, तथापि निम्नलिखित चार-पाँच कार्य विशेष हुए हैं।

१. इसमें 'महाकवि भूधरदास और उनका जैन शतक' नामक एक परिशिष्ट नया जोड़ा है, जिसमें साहित्य-जगत के बड़े-बड़े विद्वानों के, महाकवि भूधरदास और उनके जैन शतक से सम्बन्धित अभिमतों को जहाँ-तहाँ से खोजकर प्रस्तुत किया है। ये सभी अभिमत साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।

२. 'जैन शतक' की अनेक हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियों का मिलान करके पाठ-निर्धारण का भी प्रयास किया है जहाँ शुद्ध पाठ का निर्णय नहीं हो सका है - वहाँ उसके पाठान्तरों को पाद-टिप्पणी में दे दिया है। आशा है विद्वद्गण उनके शुद्धाशुद्धत्व का विवेक करेंगे।

३. प्रारम्भ में 'विषय-सूची' लगा दी गई है, जिसमें पूरे ग्रन्थ के विषय को एक दृष्टि में समझा जा सकेगा।

४. कतिपय छन्दों के संक्षेप में 'विशेष' भी लिखे हैं। यद्यपि मैं सभी छन्दों के ऐसे विस्तृत विशेषार्थ लिखना चाहता था, जिनमें छन्द के गूढ़ भावों को भी खोलने की चेष्टा की जाए और उसके कलात्मक सौन्दर्य की ओर भी कुछ संकेत किया जाए; पर ग्रन्थ का आकार बढ़ जाने के भय से ऐसा नहीं कर सका हूँ। वैसे भी इन छन्दों का अथाह भावसागर क्या मेरे विशेषार्थो की गागर में समाता?

५. छन्दों के गद्यानुवाद में कहीं-कहीं छोटे-छोटे शाब्दिक संशोधन भी किये हैं जो वाक्य विन्यास, भाषा-प्रवाह एवं छन्दों के अर्थस्पष्टीकरण की दृष्टि से बहुत आवश्यक प्रतीत हो रहे थे। इन महत्वपूर्ण संशोधनों में मुझे अपने प्रथम संस्करण के सुधी पाठकों विशेषकर श्री राजमलजी जैन अजमेरा एवं स्व. वैद्य श्री गंभीरचन्दजी जैन के अनेक अमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं। मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। आशा है अब यह कृति और अधिक उपयोगी बन गई होगी।

यद्यपि उक्त संशोधनों के अतिरिक्त मैं इस संस्करण में एक ऐसी विस्तृत एवं शोधपरक प्रस्तावना भी लिखना चाहता था, जिसमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय, शतक-काव्य-परम्परा एवं उसमें जैन शतक का स्थान, जैन शतक का अन्य अनेक ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन एवं जैन शतक का काव्य-सौन्दर्य (भाव, रस, अलंकार, छन्द, भाषा, लोकोक्ति, मुहावरे) आदि विषयों पर कुछ समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो; पर यह कार्य अभी मुझसे नहीं हो सका है। आशा है विद्वान पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

दिनांक : 15 अगस्त, 2002 — **वीरसागर जैन**

## समकित सावन आयौ

अब मेरैं समकित सावन आयो ॥टेक॥

**बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीष्म, पावस सहज सुहायो ॥१॥**
**अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो ॥२॥**
**बोलै विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिनि भायो ॥३॥**
**गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन विहसायो ॥४॥**
**साधक भाव अंकूर उठे बहु, जित-तित हरष सवायो ॥५॥**
**भूल-धूल कहिं भूल न सूझत, समरस जल झर लायो ॥६॥**
**'भूधर' को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो ॥७॥**

अहो! अब मेरे जीवन में सम्यक्त्व रूपी सावन आ गया है। मिथ्यात्व रूपी ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई है और सहजतारूपी वर्षा ऋतु सुहावनी लगने लगी है।अनुभव रूपी बिजली चमकने लगी है, निजरमणता रूपी घनघोर घटा छा गई है। विवेकरूपी पपीहा बोल रहे हैं, जो सुबुद्धिरूपी सौभाग्यवती को बहुत प्रिय लग रहे हैं। गुरु-उपदेश रूपी गर्जना को सुनकर सुख उत्पन्न हो रहा है और मेरा मन रूपी सुन्दर मोर प्रसन्नता से हँस रहा है, नाच रहा है। साधक भाव रूपी अनेक अंकुर फूट पड़े हैं, जिससे जहाँ-तहाँ अपार आनन्द बढ़ता जा रहा है। अज्ञानता रूपी धूल अब कहीं भूल से भी नहीं दिखाई पड़ती। और समरसरूपी जल की झड़ी लग गई है।

कवि भूधरदास कहते हैं कि ऐसी स्थिति में अब, जिन्होंने अपना निरचूं (नहीं टपकने वाला) घर पा लिया है उनमें से कौन अपने घर से बाहर निकलेगा? तात्पर्य है कि ऐसी स्थिति में ज्ञानी तो अपने घर में ही मग्न रहना चाहते हैं, बाहर नहीं निकलना चाहते।

# विषय-सूची


| क्रम | विषय | छन्दांक |
|---|---|---|
| १. | श्री आदिनाथ-स्तुति | १-४ |
| २. | श्री चन्द्रप्रभ-स्तुति | ५ |
| ३. | श्री शान्तिनाथ-स्तुति | ६ |
| ४. | श्री नेमिनाथ-स्तुति | ७ |
| ५. | श्री पार्श्वनाथ-स्तुति | ८ |
| ६. | श्री वर्द्धमान-स्तुति | ९-१० |
| ७. | श्री सिद्ध-स्तुति | ११-१२ |
| ८. | श्री साधु-स्तुति | १३ |
| ९. | श्री जिनवाणी-स्तुति | १४-१५ |
| १०. | जिनवाणी और मिथ्यावाणी | १६ |
| ११. | वैराग्य-कामना | १७ |
| १२. | राग और वैराग्य का अन्तर | १८ |
| १३. | भोग-निषेध | १९ |
| १४. | देह-स्वरूप | २० |
| १५. | संसार का स्वरूप और समय की बहुमूल्यता | २१-२४ |
| १६. | शिक्षा | २५-२७ |
| १७. | बुढ़ापा | २८-३१ |
| १८. | संसारी जीव का चिंतवन | ३२-३३ |
| १९. | अभिमान-निषेध | ३४-३६ |
| २०. | निज-अवस्था-वर्णन | ३७ |
| २१. | बुढ़ापा | ३८-४३ |
| २२. | कर्त्तव्य-शिक्षा | ४४-४५ |
| २३. | सच्चे देव का लक्षण | ४६ |
| २४. | यज्ञ में हिंसा का निषेध | ४७ |
| २५. | षट्कर्मोपदेश | ४८-४९ |
| २६. | सप्तव्यसन | ५० |
| २७. | जुआ-निषेध | ५१ |
| २८. | मांसभक्षण-निषेध | ५२ |
| २९. | मदिरापान-निषेध | ५३ |
| ३०. | वेश्यासेवन-निषेध | ५४ |
| ३१. | आखेट-निषेध | ५५ |
| ३२. | चोरी-निषेध | ५६ |
| ३३. | परस्त्री-सेवन-निषेध | ५७ |
| ३४. | परस्त्री-त्याग-प्रशंसा | ५८-५९ |
| ३५. | कुशील-निन्दा | ६० |
| ३६. | एक-एक व्यसन का सेवन करनेवालों के नाम व फल | ६१ |
| ३७. | कुकवि-निन्दा | ६४-६६ |
| ३८. | मनरूपी हाथी | ६७ |
| ३९. | गुरु-उपकार | ६८ |
| ४०. | कषाय जीतने का उपाय | ६९ |
| ४१. | मिष्ट वचन | ७० |
| ४२. | धैर्य-धारण का उपदेश | ७१ |
| ४३. | होनहार दुर्निवार | ७२ |
| ४४. | काल-सामर्थ्य | ७३-७४ |
| ४५. | धैर्य-शिक्षा | ७५ |
| ४६. | आशारूपी नदी | ७६ |
| ४७. | महामूढ़-वर्णन | ७७-७८ |
| ४८. | दुष्ट-कथन | ७९ |
| ४९. | विधाता से तर्क | ८० |
| ५०. | चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह | ८१ |
| ५१. | श्री ऋषभदेव के पूर्वभव | ८२ |
| ५२. | श्री चन्द्रप्रभ के पूर्वभव | ८३ |
| ५३. | श्री शांतिनाथ के पूर्वभव | ८४ |
| ५४. | श्री नेमिनाथ के पूर्वभव | ८५ |
| ५५. | श्री पार्श्वनाथ के पूर्वभव | ८६ |
| ५६. | राजा यशोधर के पूर्वभव | ८७ |
| ५७. | सुबुद्धि सखी के प्रतिवचन | ८८ |
| ५८. | गुजराती भाषा में शिक्षा | ८९ |
| ५९. | द्रव्यलिंगी मुनि | ९० |
| ६०. | अनुभव-प्रशंसा | ९१ |
| ६१. | भगवत्-प्रार्थना | ९२ |
| ६२. | जिनधर्म-प्रशंसा | ९३-१०५ |
| ६३. | अन्तिम प्रशस्ति | १०६-१०७ |
| ६४. | परिशिष्ट-१ महाकवि भूधरदास और उनका 'जैन शतक' | |
| ६५. | परिशिष्ट-२ छन्दानुक्रमणिका | |

卐 ॐ नमः सिद्धेभ्यः 卐

# जैन शतक

## १. श्री आदिनाथ स्तुति

(सवैया)

**ज्ञानजिहाज बैठि गनधर-से, गुनपयोधि जिस नाहिं तरे हैं।**
**अमर-समूह आनि अवनी सौं, घसि-घसि सीस प्रनाम करे हैं॥**
**किधौं भाल-कुकरम की रेखा, दूर करन की बुद्धि धरे हैं।**
**ऐसे आदिनाथ के अहनिस, हाथ जोड़ि हम पाँय परे हैं॥१॥**

जिनके गुणसमुद्र का पार गणधर जैसे बड़े-बड़े नाविक अपने विशाल ज्ञानजहाजों द्वारा भी नहीं पा सके हैं और जिन्हें देवताओं के समूह स्वर्ग से उतरकर पृथ्वी से पुन: पुन: अपने सिर घिसकर इस तरह प्रणाम करते हैं मानों वे अपने ललाट पर बनी कुकर्मों की रेखा को दूर करना चाहते हों; उन प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ को हम सदैव हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं और उनके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं।

(सवैया)

**काउसग्ग मुद्रा धरि वन में, ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि हीनी[1]।**
**निहचल अंग मेरु है मानौ, दोऊ भुजा छोर जिन दीनी॥**
**फँसे अनंत जंतु जग-चहले, दुखी देखि करुना चित लीनी।**
**काढ़न काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधौं बाँह ये दीरघ कीनी॥२॥**

भगवान ऋषभदेव कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर वन में खड़े हुए हैं। उन्होंने समस्त ऐश्वर्य को तुच्छ जानकर छोड़ दिया है। उनका शरीर इतना निश्चल है मानों सुमेरु पर्वत हो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं को शिथिलतापूर्वक नीचे छोड़ रखा है, जिससे ऐसा लगता है मानों संसाररूपी कीचड़ में फँसे हुए अनन्त प्राणियों को दु:खी देख कर उनके मन में करुणा उत्पन्न हुई है और उन्होंने अपनी दोनों भुजाएँ उन प्राणियों को संसाररूपी कीचड़ से निकालने के लिए लम्बी की हैं।

---

१. पाठान्तर : दीनी।

(सवैया)

**करनौं कछु न करन तैं कारज, तातैं पानि प्रलम्ब करे हैं।**
**रह्यौ न कछु पाँयन तैं पैबौ, ताही तैं पद नाहिं टरे हैं॥**
**निरख चुके नैनन सब यातैं, नैन नासिका-अनी धरे हैं।**
**कानन कहा सुनैं यौं कानन, जोगलीन जिनराज खरे हैं॥३॥**

जिनेन्द्र भगवान को हाथों से कुछ भी करना नहीं बचा है, अत: उन्होंने अपने हाथों को शिथिलतापूर्वक नीचे लटका दिया है; पैरों से चलकर उन्हें कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा है, अत: उनके पैर एक स्थान से हिलते नहीं हैं, स्थिर हैं; वे सब कुछ देख चुके हैं, अत: उन्होंने अपनी आँखों को नासिका की नोक पर टिका दिया है; तथा कानों से भी अब वे क्या सुनें, इसलिए ध्यानस्थ होकर कानन (वन) में खड़े हैं।

**विशेष :—** ठीक ऐसा ही भाव 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के धर्मोपदेशनाधिकार, श्लोक २ में भी प्रकट किया गया है।

(छप्पय)

**जयौ नाभिभूपाल-बाल सुकुमाल सुलच्छन।**
**जयौ स्वर्गपातालपाल गुनमाल प्रतच्छन॥**
**दृग विशाल वर भाल लाल नख चरन विरज्जहिं।**
**रूप रसाल मराल चाल सुन्दर लखि लज्जहिं॥**
**रिपु-जाल-काल रिसहेश हम, फँसे जन्म-जंबाल-दह।**
**यातैं निकाल बेहाल अति, भो दयाल दुख टाल यह॥४॥**

नाभिराय के सुलक्षण और सुकुमार पुत्र श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो! स्वर्ग से पाताल तक तीनों लोकों का पालन करने वाले श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो !! स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए उत्कृष्ट गुणों के समुदाय स्वरूप श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो !!!

श्री ऋषभदेव के नेत्र विशाल हैं, उनका भाल (ललाट) श्रेष्ठ या उन्नत हैं, उनके चरणों में लाल नख सुशोभित हैं, उनका रूप बहुत मनोहर है और उनकी सुन्दर चाल को देखकर हंस भी लज्जित होते हैं।

हे कर्मशत्रुओं के समूह को नष्ट करने वाले भगवान ऋषभदेव ! जन्म-मरण के गहरे कीचड़ में फँसकर हमारी बहुत दुर्दशा हो रही है, अत: आप हमें उसमें से निकालकर हमारा महादु:ख दूर कर दीजिये।

## २. श्री चन्द्रप्रभ स्तुति

(सवैया)

**चितवत वदन अमल-चन्द्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी।**
**त्रिभुवनचन्द पापतपचन्दन, नमत चरन चंद्रादिक नामी॥**
**तिहुँ जग छई चन्द्रिका-कीरति, चिहन चन्द्र चिंतत शिवगामी।**
**बन्दौं चतुर चकोर चन्द्रमा, चन्द्रवरन चंद्रप्रभ स्वामी॥५॥**

जिनके निर्मल चन्द्रमा के समान मुख का दर्शन करते ही भव्य जीवों का चित्त समस्त चिन्ताओं का त्याग कर अकामी (समस्त इच्छाओं से रहित) हो जाता है, जो तीन लोकों के चन्द्रमा हैं, जो पापरूपी आतप के लिए चन्दन हैं, जिनके चरणों में बड़े प्रसिद्ध चन्द्रादिक देव भी प्रणाम करते हैं, जिनकी उज्ज्वल कीर्तिरूपी चाँदनी तीनों लोकों में छाई हुई है, जिनके चन्द्रमा का चिह्न है, मोक्षाभिलाषी जीव जिनका स्मरण करते हैं, जो बुद्धिमान पुरुषरूपी चकोरों के लिए चन्द्रमा हैं, और जिनका वर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है; उन चन्द्रप्रभ स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ।

## ३. श्री शान्तिनाथ स्तुति

(मत्तगयन्द सवैया)

**शांति जिनेश जयौ जगतेश, हरै अघताप निशेश की नांई।**
**सेवत पाय सुरासुरराय, नमैं सिर नाय महीतल तांई॥**
**मौलि लगे मनिनील दिपैं, प्रभु के चरनौं झलकैं वह झांई।**
**सूँघन पाँय-सरोज-सुगंधि, किधौं चलि ये अलिपंकति आई॥६॥**

जो पापरूपी आतप को चन्द्रमा के समान हरते हैं, सुरेन्द्र और असुरेन्द्र भी जिनके चरणों की सेवा करते हैं और उन्हें धरती तक सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, वे जगतस्वामी श्री शांतिनाथ भगवान जयवन्त वर्तो।

हे शांतिनाथ भगवान! जिस समय आपको सुरेन्द्र और असुरेन्द्र धरती तक सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं और उनके मुकुटों में लगी हुई दिव्य नीलमणियों की परछाई आपके चरणों पर झलकती है तो उस समय ऐसा लगता है मानों आपके चरण-कमलों की सुगन्ध सूँघने के लिए भ्रमरों की पंक्ति ही चली आई है।

## ४. श्री नेमिनाथ स्तुति

(कवित्त मनहर)

शोभित प्रियंग अंग देखैं दुख हाय भंग,
लाजत अनंग जैसैं दीप भानुभास तैं।
बालब्रह्मचारी उग्रसेन की कुमारी जादो -
नाथ ! तैं निकारी जन्मकादो-दुखरास तैं॥
भीम भवकानन मैं आन न सहाय स्वामी,
अहो नेमि नामी तकि आयौ तुम तास तैं।
जैसैं कृपाकंद वनजीवन की बन्द छोरी,
त्यौंही दास को खलास कीजे भवपास तैं॥ ७॥

हे भगवान नेमिनाथ ! आपका शरीर प्रियंगु के फूल के समान श्याम वर्ण से सुशोभित है, आपके दर्शन से सारा दु:ख दूर हो जाता है। और जिसप्रकार सूर्य की प्रभा के सामने दीपक लज्जित होता है, उसीप्रकार आपके सामने कामदेव लज्जित होता है।

हे यादवनाथ ! आप बालब्रह्मचारी हैं। आपने सांसारिक कीचड़ के अनन्त दु:खों में से महाराजा उग्रसेन की कन्या (राजुल) को भी निकाला है।

हे सुप्रसिद्ध नेमिनाथ स्वामी ! अब मैंने यह भली प्रकार समझ लिया है कि इस भयानक संसाररूपी जंगल में मुझे आपके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, इसलिए मैं आपकी ही शरण में आया हूँ।

हे कृपाकंद ! जिस प्रकार आपने पशुओं को बन्धन से मुक्त किया था, उसी प्रकार मुझ सेवक को भी संसार-जाल से मुक्त कर दीजिये।

**विशेष :**—१. प्रस्तुत छन्द में कवि ने श्री नेमिनाथ के विवाह-प्रसंग की ओर संकेत किया है, अत: इस छन्द का अर्थ समझने के लिए उसे जानना आवश्यक है। श्री नेमिनाथ का विवाह महाराजा उग्रसेन की पुत्री राजुल से होना तय हुआ था, किन्तु जब बारात जा रही थी तभी पशुओं के बन्धन देखकर नेमिनाथ को वैराग्य हो गया और उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली। इससे पशुओं को तो बन्धनमुक्त कर ही दिया गया, राजुल ने भी विरक्त होकर आर्यिका के व्रत को अंगीकार कर लिया।

२. 'प्रियंग अंग' का अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि जिनका अंग-अंग प्रिय है अथवा प्रत्येक अंग सुन्दर है।

## ५. श्री पार्श्वनाथ स्तुति

(छप्पय)

**जनम-जलधि-जलजान, जान जनहंस-मानसर।**
**सरव इन्द्र मिलि आन, आन जिस धरहिं सीस पर॥**
**परउपगारी बान, बान उत्थपइ कुनय-गन।**
**गन-सरोजवन-भान, भान मम मोह-तिमिर-घन॥**
**घनवरन देहदुख-दाह हर, हरखत हेरि मयूर-मन।**
**मनमथ-मतंग-हरि पास जिन, जिन विसरहु छिन जगतजन!॥८॥**

हे संसार के प्राणियो! भगवान पार्श्वनाथ को कभी क्षण भर भी मत भूलो। वे संसाररूपी समुद्र को तिरने के लिए जहाज हैं, भव्यजीवरूपी हंसों के लिए मानसरोवर हैं, सभी इन्द्र आकर उनकी आज्ञा मानते हैं, उनके वचन परोपकारी और कुनय-समूह की प्रकृति को उखाड़ फेंकने वाले हैं, मुनिसमुदायरूपी कमल के वनों (समूहों) के लिए सूर्य हैं, आत्मा के घने मोहान्धकार को नष्ट करने वाले हैं, मेघ के समान वर्णवाले हैं, सांसारिक दु:खों की ज्वाला को हरने वाले हैं, उन्हें पाकर मनमयूर प्रसन्न हो जाता है, और कामदेवरूपी हाथी के लिए तो वे ऐसे हैं जैसे कोई सिंह।

**विशेष :—**प्रस्तुत पद में महाकवि भूधरदास ने तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की बड़े ही कलात्मक ढंग से स्तुति की है। पद का भाव-सौन्दर्य तो अगाध है ही, शिल्प-सौन्दर्य भी विशिष्ट है। यथा, इस पद का पहला कदम 'जान' शब्द पर रुका है तो दूसरा कदम पुन: 'जान' शब्द से ही शुरू हो रहा है, दूसरा कदम 'सर' पर रुका है तो तीसरा कदम पुन: 'सर' से ही प्रारम्भ हो रहा है, तीसरा कदम 'आन' पर रुका है तो चौथा कदम पुन: 'आन' से ही प्रारंभ हो रहा है। इसी प्रकार पद के अन्य सभी कदम अपने पूर्व-पूर्ववर्ती कदम के अन्तिम अक्षरों को अपने हाथ में पकड़कर ही आगे बढ़ते हैं। इतना ही नहीं, पद का प्रारंभ 'जन' शब्दांश से हुआ है तो अन्त भी 'जन' से ही हुआ है। यद्यपि ऐसी विशेषता 'कुण्डलिया' में पाई जाती है, पर महाकवि भूधरदास ने 'छप्पय' में भी यह कलात्मक प्रयोग कर दिखाया है।

यमक अलंकार के विशिष्ट प्रयोग की दृष्टि से भी यह पद उल्लेखनीय है। यमक अलंकार के एक साथ इतने और वे भी ऐसे विशिष्ट प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ हैं।

## ६. श्री वर्द्धमान स्तुति

(दोहा)

**दिढ़-कर्माचल-दलन पवि, भवि-सरोज-रविराय।**
**कंचन छवि कर जोर कवि, नमत वीरजिन-पाँय॥ ९॥**

प्रबल कर्मरूपी पर्वत को चकनाचूर करने के लिए जो वज्र के समान हैं, भव्यजीवरूपी कमलों को खिलाने के लिए जो श्रेष्ठ सूर्य के समान हैं और जिनकी प्रभा स्वर्णिम है; उन भगवान महावीर के चरणों में मैं हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ।

**विशेष :**—यहाँ कवि ने 'दिढ़ कर्माचल दलन पवि' कहकर भगवान के वीतरागता गुण की ओर संकेत किया है, 'भवि-सरोज-रविराय' कहकर हितोपदेशी पने की ओर संकेत किया है और 'कंचन छवि' कहकर सर्वज्ञता गुण की ओर संकेत किया है। तात्पर्य यह है कि जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं, उन वर्द्धमान जिनेन्द्र के चरणों को मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

(सवैया)

**रहौ दूर अंतर की महिमा, बाहिज गुन वरनन बल का पै।**
**एक हजार आठ लच्छन तन, तेज कोटिरवि-किरनि उथापै॥**
**सुरपति सहसआँख-अँजुलि सौं, रूपामृत पीवत नहिं धापै।**
**तुम बिन कौन समर्थ वीर जिन, जग सौं काढ़ि मोख मैं थापै॥ १०॥**

हे भगवान महावीर ! आपके अन्तरंग गुणों की महिमा तो दूर, बहिरंग गुणों का वर्णन करने की भी सामर्थ्य किसी में नहीं है।

एक हजार आठ लक्षणों से युक्त आपके शरीर का तेज करोड़ों सूर्यों की किरणों को उखाड़ फेंकता है अर्थात् आपके शरीर के तेज की बराबरी करोड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते हैं। देवताओं का राजा इन्द्र हजार आँखों की अंजुलि से भी आपके रूपामृत को पीता हुआ तृप्त नहीं होता है।

हे वीर प्रभो ! इस जगत् में आपके अतिरिक्त अन्य कौन ऐसा समर्थ है, जो जीवों को संसार से निकालकर मोक्ष में स्थापित कर सके ?

**विशेष :**—१. यहाँ कवि ने प्रथम पंक्ति में ही कहा है कि भगवान के अंतरंग गुणों की महिमा तो दूर, बहिरंग गुणों का वर्णन करने की भी सामर्थ्य किसी में नहीं है। सो ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ कवि ने पहले [वर्द्धमान-स्तुति के प्रथम छन्द (९वें) में] भगवान के अंतरंग गुणों की स्तुति की है और अब

[इस द्वितीय छन्द (१०वें) में] यह सिद्ध कर रहे हैं कि उनके बहिरंग गुणों का वर्णन करने की भी सामर्थ्य किसी में नहीं है।

२. भगवान के १००८ लक्षणों को जानने के लिए आचार्य जिनसेन कृत 'महापुराण' (सर्ग १५, श्लोक ३७ से ४४) देखें। वहाँ बताया गया है कि श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका आदि १०८ लक्षण और मसूरिका आदि ९०० व्यंजन भगवान के शरीर में विद्यमान थे।

## ७. श्री सिद्ध स्तुति

(मत्तगयंद सवैया)

**ध्यान-हुताशन मैं अरि-ईंधन, झोंक दियो रिपुरोक निवारी।**
**शोक हर्यो भविलोकन कौ वर, केवलज्ञान-मयूख उघारी॥**
**लोक-अलोक विलोक भये शिव, जन्म-जरा-मृत पंक पखारी।**
**सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी॥११॥**

जिन्होंने आत्मध्यानरूपी अग्नि में कर्मशत्रुरूपी ईंधन को झोंककर समस्त बाधाओं को दूर कर दिया है, भव्य जीवों का सर्व शोक नष्ट कर दिया है, केवलज्ञानरूपी उत्तम किरणें प्रकट कर ली हैं, सम्पूर्ण लोक-अलोक को देख लिया है, जो मुक्त हो गये हैं और जिन्होंने जन्म-जरा-मरण की कीचड़ को साफ कर दिया है; उन मोक्षनिवासी अनन्त सिद्ध भगवन्तों को त्रिकाल — सदैव हमारी पाँवाढोक मालूम होवे।

(मत्तगयंद सवैया)

**तीरथनाथ प्रनाम करैं, तिनके गुनवर्णन मैं बुधि हारी।**
**मोम गयौ गलि मूस मँझार, रह्यौ तहँ व्योम तदाकृतिधारी॥**
**लोक गहीर-नदीपति-नीर, गये तिर तीर भये अविकारी।**
**सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी॥१२॥**

जिन्हें तीर्थंकरदेव प्रणाम करते हैं, जिनके गुणों का वर्णन करने में बुद्धिमानों की बुद्धि भी हार जाती है, जो मोम के साँचे में मोम के गल जाने पर बचे हुए तदाकार आकाश की भाँति अपने अंतिम शरीराकाररूप से स्थित हैं, जिन्होंने संसाररूपी महा समुद्र को तिरकर किनारा प्राप्त कर लिया है और जो विकारी भावों से रहित शुद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं; उन अनन्त सिद्ध भगवन्तों को त्रिकाल — सदैव हमारी पाँवाढोक मालूम होवे।

## ८. श्री साधु स्तुति

(कवित्त मनहर)

शीतरितु जोरैं अंग सब ही सकोरैं तहाँ,
तन को न मोरैं नदीधौरैं धीर जे खरे।
जेठ की झकोरैं जहाँ अण्डा चील छोरैं,
पशु-पंछी छाँह लौरैं गिरिकोरैं तप वे धरें॥
घोर घन घोरैं घटा चहूँ ओर डोरैं ज्यौं-ज्यौं,
चलत हिलारैं त्यौं-त्यौं फोरैं बल ये अरे।
देहनेह तोरैं परमारथ सौं प्रीति जोरैं,
ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ अंजुली करें॥१३॥

जो धीर, जब सब लोग अपने शरीर को संकुचित किये रहते हैं ऐसी कड़ाके की सर्दी में, अपने शरीर को बिना कुछ भी मोड़े, नदी-किनारे खड़े रहते हैं, जब चील अंडा छोड़ दे और पशु-पक्षी छाया चाहते फिरें ऐसी जेठ माह की लूओं (गर्म हवाओं) वाली तेज गर्मी में पर्वत-शिखर पर तप करते हैं तथा गरजती हुई घनघोर घटाओं और प्रबल पवन के झोंकों में अपने पुरुषार्थ को अधिकाधिक स्फुरायमान करते हुए डटे रहते हैं, शरीर सम्बन्धी राग को तोड़कर परमार्थ से प्रीति जोड़ते हैं; उन गुरुओं को हम हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं।

**विशेष :**—प्रस्तुत छन्द में कवि ने परिषहजयी साधुओं की स्तुति करते हुए कहा है कि ऐसी शीत, उष्ण, वर्षा में भी वे अपने आत्मिक पुरुषार्थ को अधिकाधिक स्फुरायमान करते हुए डटे रहते हैं। सो वास्तव में परिषहजय का अभिप्राय ऐसा ही है कि परिषह की ओर लक्ष्य ही न जावे और साधक आत्मानुभव में ही लगा रहे, उससे जरा भी विचलित न हो। आचार्य ब्रह्मदेवसूरि 'द्रव्यसंग्रह' (गाथा-३५) की टीका में लिखते हैं कि "क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि . . . निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनित्यानन्दलक्षणसुखामृत संवित्तेरचलनं स परिषहजय इति।" अर्थात् क्षुधादि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी . . . निजपरमात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार व नित्यानन्द रूप सुखामृत के अनुभव से विचलित नहीं होना ही परिषहजय है।

## ९. श्री जिनवाणी स्तुति

(मत्तगयंद सवैया)

**वीरहिमाचल तैं निकसी, गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है।**
**मोहमहाचल भेद चली, जग की जड़तातप दूर करी है॥**
**ज्ञानपयोनिधि माहिं रली, बहु भंग-तरंगनि सौं उछरी हैं।**
**ता शुचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अँजुरी निज सीस धरी है॥१४॥**

जो भगवान महावीररूपी हिमालय पर्वत से निकली है, गौतम गणधर के मुखरूपी कुण्ड में ढली है, मोहरूपी विशाल पर्वतों का भेदन करती चल रही है, जगत् की अज्ञानरूपी गर्मी को दूर कर रही है, ज्ञानसमुद्र में मिल गई है और जिसमें भंगों रूपी बहुत तरंगें उछल रही हैं; उस जिनवाणीरूपी पवित्र गंगा नदी को मैं हाथ जोड़कर और शीश झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

(मत्तगयंद सवैया)

**या जग-मन्दिर मैं अनिवार, अज्ञान-अँधेर छयौ अति भारी।**
**श्रीजिन की धुनि दीपशिखा सम, जो नहिं होत प्रकाशनहारी॥**
**तो किहँ भाँति पदारथ-पाँति, कहाँ लहते, रहते अविचारी।**
**या विधि संत कहैं धनि हैं, धनि हैं जिनवैन बड़े उपगारी॥१५॥**

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि अहो! इस संसाररूपी भवन में अज्ञानरूपी अत्यधिक घना अन्धकार छाया हुआ है। उसमें यदि यह प्रकाश करने वाली जिनवाणीरूपी दीपशिखा नहीं होती तो हम वस्तु का स्वरूप किस प्रकार समझते, भेदज्ञान कैसे प्राप्त करते ? तथा इसके बिना तो हम अविचारी — अज्ञानी ही रह जाते। अहो ! धन्य है !! धन्य है !!! जिनवचन परम उपकारी हैं।

**विशेष** :—जिनवाणी-स्तुति के उक्त दोनों छन्द (छन्द-संख्या १४ व १५) देश भर की शास्त्रसभाओं में शास्त्र-स्वाध्याय या प्रवचन पूर्ण होने के बाद जिनवाणी-स्तुति के रूप में बोले जाते हैं; परन्तु खेद की बात है कि आज अधिकांश लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि इनके रचयिता महाकवि भूधरदास हैं। अनेक लोग तो यह तक समझते-समझाते पाये जाते हैं कि इसके रचयिता संत कवि ('सिद्धचक्र विधान' वाले) हैं। हो सकता है उन्हें ऐसा भ्रम छन्द-संख्या १५ की अन्तिम पंक्ति के 'संत' शब्द से हुआ हो, पर आशा है कि अब सब लोग अपनी भूल सुधार लेंगे।

## १०. जिनवाणी और मिथ्यावाणी

(कवित्त मनहर)

**कैसे करि केतकी-कनेर एक कहि जाय,**
**आकदूध-गायदूध अन्तर घनेर है।**
**पीरी होत रीरी पै न रीस करै कंचन की,**
**कहाँ काग-वानी कहाँ कोयल की टेर है॥**
**कहाँ भान भारौ कहाँ आगिया बिचारौ कहाँ,**
**पूनौ को उजारौ कहाँ मावस-अँधेर है।**
**पच्छ छोरि पारखी निहारौ नेक नीके करि,**
**जैनबैन-औरबैन इतनौं ही फेर है॥१६॥**

केतकी और कनेर को एक समान कैसे कहा जा सकता है? उन दोनों में तो बहुत अन्तर है। आक के दूध और गाय के दूध को एक समान कैसे कहा जा सकता है? उन दोनों में तो बहुत अन्तर है।

इसीप्रकार यद्यपि पीतल भी पीला होता है, पर वह कंचन की समानता नहीं कर सकता है।

हे भाई ! जरा तुम ही विचारो! कहाँ कौए की आवाज और कहाँ कोयल की टेर! कहाँ दैदीप्यमान सूर्य और कहाँ बेचारा जुगनू! कहाँ पूर्णिमा का प्रकाश और कहाँ अमावस्या का अन्धकार !

हे पारखी ! अपना पक्ष (दुराग्रह) छोड़कर जरा सावधानीपूर्वक देखो, जिनवाणी और अन्यवाणी में उपर्युक्त उदाहरणों की भाँति बहुत अन्तर है।

**विशेष :**—१. 'केतकी' एक ऐसे वृक्ष विशेष का नाम है जिस पर अत्यन्त सुगन्धित पुष्प आते हैं और जिसे सामान्य भाषा में 'केवड़ा' भी कहते हैं। तथा 'कनेर' यद्यपि देखने में 'केतकी' जैसा ही लगता है, पर वस्तुत: वह एक विषवृक्ष होता है और उसके पुष्प सुगन्धादि गुणों से हीन होते हैं।

२. 'जुगनू' एक उड़नेवाला छोटा कीड़ा होता है जिसका पिछला भाग आग की चिनगारी की तरह चमकता रहता है।

३. प्रस्तुत छन्द में कवि का परीक्षाप्रधानी व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उजागर होता है।

## ११. वैराग्य-कामना

(कवित्त मनहर)

कब गृहवास सौं उदास होय वन सेऊँ,
वेऊँ निजरूप गति रोकूँ मन-करी की।
रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग,
सहि हौं परीसा शीत-घाम-मेघझरी की॥
सारंग समाज खाज कबधौं खुजैहैं आनि,
ध्यान-दल-जोर जीतूँ सेना मोह-अरी की।
एकलविहारी जथाजातलिंगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की॥ १७॥

अहो ! वह घड़ी कब आयेगी, जब मैं गृहस्थदशा से विरक्त होकर वन में जाऊँगा, अपने मनरूपी हाथी को वश में करके निज आत्मस्वरूप का अनुभव करूँगा, एक आसन पर निश्चलतया स्थिर रहकर सर्दी, गर्मी, वर्षा के परीषहों को सहन करूँगा, मृगसमूह (मेरे निश्चल शरीर को पाषाण समझकर उससे) अपनी खाज (चर्मरोग) खुजायेंगे और मैं आत्मध्यानरूपी सेना के बल से मोहरूपी शत्रु की सेना को जीतूँगा?

अहो! मैं ऐसी उस अपूर्व घड़ी की बलिहारी जाता हूँ, जब मैं एकल-विहारी होऊँगा, यथाजातलिंगधारी (पूरी तरह नग्न दिगम्बर) होऊँगा और पूर्णतः स्वाधीन वृत्तिवाला होऊँगा।

**विशेष** :—१. यहाँ मन को हाथी की उपमा दी गई है। इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ का ६७वाँ छन्द विशेषतः द्रष्टव्य है जिसमें कवि ने अनेक प्रकार से मन को हाथी के समान सिद्ध भी किया है।

२. 'उदास' शब्द का अर्थ प्रायः लोग दुःखी या परेशान समझते हैं; पर यहाँ उसका अर्थ ऐसा नहीं है। वास्तव में 'उदास' शब्द का सही अर्थ 'विरक्त' ही होता है और वही यहाँ अभीष्ट है।

३. मृगसमूह द्वारा खाज खुजाने की बात अनेक पूर्वाचार्यों ने भी कही है। इसके द्वारा ध्यान की उत्कृष्टता को बताया गया है।

४. इस कवित्त के भावसाम्य हेतु 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में 'यतिभावनाष्टक' के द्वितीय श्लोक को देखा जा सकता है।

५. यथाजातलिंगधारी = जैसा जन्म के समय रूप था, उसका ही धारक अर्थात् पूर्णतया नग्न दिगम्बर।

## १२. राग और वैराग्य का अन्तर

(कवित्त मनहर)

**राग-उदै भोग-भाव लागत सुहावने-से,**
**विना राग ऐसे लागैं जैसैं नाग कारे हैं।**
**राग ही सौं पाग रहे तन मैं सदीव जीव,**
**राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥**
**राग ही सौं जगरीति झूठी सब साँची जानै,**
**राग मिटैं सूझत असार खेल सारे हैं।**
**रागी-विनरागी के विचार मैं बड़ौई भेद,**
**जैसे भटा पच काहू काहू को बयारे हैं॥१८॥**

पंचेन्द्रिय के विषयभोग और उन्हें भोगने के भाव, राग (मिथ्यात्व) के उदय में सुहावने-से लगते हैं, परन्तु वैराग्य होने पर काले नाग के समान (दु:खदायी और हेय) प्रतीत होते हैं।

राग ही के कारण अज्ञानी जीव शरीरादि में रम रहे हैं — एकत्वबुद्धि कर रहे हैं। राग समाप्त हो जाने पर तो शरीरादि से भेदज्ञान प्रकट होकर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है।

राग ही के कारण अज्ञानी जीव जगत् की समस्त झूठी स्थितियों को सच्ची मान रहा है; राग समाप्त हो जाने पर तो जगत् का सारा खेल असार दिखाई देता है।

इसप्रकार रागी (मिथ्यादृष्टि) और विरागी (सम्यग्दृष्टि) के विचार (मान्यता) में बड़ा भारी अन्तर होता है। बैंगन किसी को पच जाते हैं और किसी को बादी करते हैं — वायुवर्द्धक होते हैं।

आशय यह है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की मान्यता में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि को विषयभोग सुखदायी और उपादेय लगते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें काले नाग के समान दु:खदायी और हेय समझता है। मिथ्यादृष्टि शरीरादि परपदार्थों में एकत्वबुद्धि करता है, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें पर जानकर उनसे विरक्त रहता है। मिथ्यादृष्टि जगत् के झूठे सम्बन्धों को सारभूत समझता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें नितान्त सारहीन मानता है।

## १३. भोग-निषेध

(मत्तगयंद सवैया)

**तू नित चाहत भोग नए नर ! पूरवपुन्य विना किम पैहै।**
**कर्मसँजोग मिले कहिं जोग, गहे तब रोग न भोग सकै है॥**
**जो दिन चार कौ ब्योंत बन्यौं कहुँ, तौ परि दुर्गति मैं पछितैहै।**
**याहितैं यार सलाह यही कि, गई कर जाहु निबाह न ह्वै है॥१९॥**

हे मित्र ! तुम नित्य नये-नये भोगों की अभिलाषा करते हो, किन्तु यह तो सोचो कि तुम्हारे पुण्योदय के बिना वे तुम्हें मिल कैसे सकते हैं ? और कदाचित् पुण्योदय से मिल भी गये तो हो सकता है, रोगादिक के कारण तुम उन्हें भोग ही नहीं सको। और, यदि किसी प्रकार चार दिन के लिए भोग भी लिये तो उससे क्या हुआ? दुर्गति में जाकर दु:ख उठाने पड़ेंगे। इसलिए हे प्यारे मित्र ! हमारी तो सलाह यही है कि तुम इनकी ओर से गई कर जाओ — उदास हो जाओ — इनकी उपेक्षा कर दो, अन्यथा पार नहीं पड़ेगी।

आशय यह है कि प्रथम तो वांछित भोगों का मिलना ही कठिन है, यदि मिल जाये तो उन्हें भोगना कठिन है, और कदाचित् थोड़ा-बहुत भोगना भी हो जाये तो उससे भी कोई तृप्ति तो मिलती नहीं और परभव में दुर्गति के अपार दु:ख और उठाने पड़ते हैं; अत: उचित यही है कि विषय-भोगों की अभिलाषा त्यागकर आत्मकल्याण किया जाये।

## १४. देह-स्वरूप

(मत्तगयंद सवैया)

**मात-पिता-रज-वीरज सौं, उपजी सब सात कुधात भरी है।**
**माँखिन के पर माफिक बाहर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है॥**
**नाहिं तौ आय लगैं अब ही बक, वायस जीव बचै न घरी है।**
**देहदशा यहै दीखत भ्रात ! घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥२०॥**

यह शरीर माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न हुआ है, और इसमें अत्यन्त अपवित्र सप्त धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य) भरी हुई हैं। वह तो इसके ऊपर मक्खी के पर के समान पतला-सा वेष्टन चढ़ा हुआ है, अन्यथा इस पर इसी वक्त बगुले-कौए आकर टूट पड़ें और यह देखते ही देखते साफ हो जाये, घड़ी भर भी न बचे।

हे भाई ! शरीर की ऐसी अपवित्र दशा को देखकर भी तुम इससे विरक्त क्यों नहीं होते हो ? तुम्हारी बुद्धि किसने हर ली है?

## १५. संसार का स्वरूप और समय की बहुमूल्यता

(कवित्त मनहर)

काहू घर पुत्र जायौ काहू के वियोग आयौ,
काहू राग-रंग काहू रोआ रोई करी है।
जहाँ भान ऊगत उछाह गीत गान देखे,
साँझ समै ताही थान हाय हाय परी है॥
ऐसी जगरीति को न देखि भयभीत होय,
हा हा नर मूढ़ ! तेरी मति कौनैं हरी है।
मानुषजनम पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरन की एक-एक घरी है॥२१॥

अहो! इस संसार की रीति बड़ी विचित्र और वैराग्योत्पादक है। यहाँ किसी के घर में पुत्र का जन्म होता है और किसी के घर में मरण होता है। किसी के राग-रंग होते हैं और किसी के रोया-रोई मची रहती है। यहाँ तक कि जिस स्थान पर प्रात:काल उत्सव और नृत्य-गानादि दिखाई देते हैं, शाम को उसी स्थान पर 'हाय! हाय!' का करुण क्रन्दन मच जाता है।

संसार के ऐसे स्वरूप को देखकर भी हे मूढ़ पुरुष ! तुम इससे डरते नहीं हो — विरक्त नहीं होते हो; पता नहीं, तुम्हारी बुद्धि किसने हर ली है?

तथा जिसकी एक-एक घड़ी करोड़ों रुपयों से भी अधिक मूल्यवान है — ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी तुम उसे प्रमाद और अज्ञान दशा में ही रहकर व्यर्थ खो रहे हो।

(सोरठा)

कर कर जिनगुन पाठ, जात अकारथ रे जिया।
आठ पहर मैं साठ, घरी घनेरे मोल की॥२२॥

हे जीव ! (अथवा हे मेरे मन !) तू जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन कर, अन्यथा तेरी प्रतिदिन आठों पहर की साठ-साठ घड़ियाँ व्यर्थ ही समाप्त होती जा रही हैं, जो कि अत्यधिक मूल्यवान हैं।

**विशेष** :—एक घड़ी = २४ मिनट। एक पहर = ३ घण्टे। एक घण्टा = ढाई घड़ी।

(सोरठा)

**कानी कौड़ी काज, कोरिन को लिख देत खत।**
**ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये॥ २३॥**

अहो ! इस जगत् में ऐसे-ऐसे मूर्खराज (अज्ञानी प्राणी) दिखाई देते हैं, जो कानी कौड़ी के लिए करोड़ों का कागज लिख देते हैं। अर्थात् क्षणिक विषय-सुख के लोभ में अपने अमूल्य मनुष्य भव को बरबाद कर घोर दु:ख देने वाले प्रबल कर्मों का बन्ध कर लेते हैं।

(दोहा)

**कानी कौड़ी विषयसुख, भवदुख करज अपार।**
**विना दियै नहिं छूटिहै, बेशक लेय उधार[1] ॥ २४॥**

हे भाई ! ये विषय-सुख तो कानी कोड़ी के समान हैं परन्तु इन्हें प्राप्त करने पर संसार के अपार दु:खों का कर्ज सिर चढ़ता है जो कि पूरा-पूरा चुकाना ही पड़ता है, लेश मात्र भी बिना चुकाये नहीं रहता। ले-ले खूब उधार !

## १६. शिक्षा

(छप्पय)

**दश दिन विषय-विनोद फेर बहु विपति परंपर।**
**अशुचिगेह यह देह नेह जानत न आप जर[2]॥**
**मित्र बन्धु सम्बन्धि और परिजन जे अंगी।**
**अरे अंध सब धन्ध[3] जान स्वारथ के संगी॥**
**परहित अकाज अपनौ न कर, मूढ़राज! अब समझ उर।**
**तजि लोकलाज निज काज कर, आज दाव है कहत गुर॥ २५॥**

हे भाई ! विषयों का विनोद तो बस कुछ ही दिन का है, उसके बाद तो विपत्तियों पर विपत्तियाँ आने वाली हैं। विषय-विनोद का साधन यह शरीर तो अशुचिगृह है, अचेतन है, जीव द्वारा किये गये स्नेह को समझता तक नहीं है। मित्रजन, बन्धु-बांधव, कुटुम्बी आदि समस्त रिश्ते-नातेदारों के भी सारे व्यवहार अज्ञानजन्य और दु:खदायी हैं। वे सब तो स्वार्थ के साथी हैं।

अत: हे मूढ़राज ! तू दूसरों के लिए अपना नुकसान न कर। अब तो अपने हृदय में समझ। गुरुवर कहते हैं कि आज तुझे अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है, अत: लोकलाज का त्यागकर आत्मा का कल्याण कर ले।

---

१. पाठान्तर : लेशक दाम उधार। २. पाठान्तर : पर। ३. पाठान्तर : बन्ध।

(कवित्त मनहर)

**जौलौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी जौलौं,**
**जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परिहै।**
**जौलौं जमनामा वैरी देय ना दमामा जौलौं,**
**मानैं कान रामा बुद्धि जाइ ना बिगरि है॥**
**तौलौं मित्र मेरे निज कारज सँवार ले रे,**
**पौरुष थकैंगे फेर पीछै कहा करिहै।**
**अहो आग आयें जब झौंपरी जरन लागी,**
**कुआ के खुदायें तब कौन काज सरिहै॥२६॥**

हे मेरे प्रिय मित्र! जब तक तुम्हारे शरीर को कोई रोगादि नहीं घेर लेता है, पराधीन कर डालनेवाला बुढ़ापा जब तक तुम्हारे पास नहीं आ जाता है, प्रसिद्ध शत्रु यमराज का डंका जब तक नहीं बज जाता है, और बुद्धि रूपी पत्नी जब तक तुम्हारी आज्ञा मानती है, बिगड़ नहीं जाती है; उससे पहले-पहले तुम आत्मकल्याण अवश्य कर लो, अन्यथा बाद में तुम्हारी शक्ति ही क्षीण हो जावेगी, तब क्या कर पाओगे? कुआँ आग लगने से पहले ही खोद लेना चाहिए। जब आग लग जाए और झौंपड़ी जलने लगे, तब कुआँ खुदाने से क्या लाभ ?

**विशेष :**—यहाँ कवि ने 'आग लगने पर कुआँ खोदने' वाली उक्ति का प्रयोग करके तो काव्य में चमत्कार तो उत्पन्न किया ही है, शीघ्र आत्मकल्याण करने की प्रेरणा भी अत्यधिक प्रभावपूर्ण ढंग से दी है।

(कवित्त मनहर)

**सौ हि वरष आयु ताका लेखा करि देखा जब[1],**
**आधी तौ अकारथ ही सोवत विहाय रे।**
**आधी मैं अनेक रोग बाल-वृद्ध दशा भोग,**
**और हु सँयोग केते ऐसे बीत जाँय रे॥**
**बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही,**
**कारज की बात यही नीकै मन लाय रे।**
**खातिर मैं आवै तौ खलासी कर इतने मैं,**
**भावै फँसि फंद बीच दीनौं समुझाय रे॥२७॥**

मनुष्य की आयु सामान्यत: सौ वर्ष बताई जाती है; परन्तु यदि इसका हिसाब लगाकर देखा जाये तो आधी आयु तो सोने में ही व्यर्थ चली जाती है। रही मात्र

१. पाठान्तर : सब।

पचास वर्ष; जिसमें भी अनेक रोग होते हैं, नासमझ रूप बाल दशा होती है, असमर्थरूप वृद्ध दशा होती है, उन्मत्तरूप भोग दशा होती है तथा और भी कितने ही ऐसे-वैसे अनेक संयोग बन जाते हैं। कितनी शेष रही ? नहीं के बराबर। अत: हे भाई! भलीप्रकार विचारकर प्रयोजनभूत बात को अपने हृदय में अच्छी तरह उतार लो, इसी में लाभ है। तथा यदि तुम्हारे हमारी बात जँचती हो तो भवबन्धनों से मुक्त हो जाओ; अन्यथा तुम्हारी मर्जी, फँसे रहो भवबन्धनों में; हमने तो तुम्हें समझा दिया है।

## १७. बुढ़ापा

(कवित्त मनहर)

**बालपनैं बाल रह्यौ पीछे गृहभार वह्यौ,**
**लोकलाज काज बाँध्यौ पापन कौ ढेर है।**
**आपनौ[1] अकाज कीनौं लोकन मैं जस लीनौं,**
**परभौ विसार दीनौं विषैवश जेर है॥**
**ऐसे ही गई विहाय, अलप-सी रही आय,**
**नर-परजाय यह आँधे की बटेर है।**
**आये सेत भैया अब काल है अवैया अहो,**
**जानी रे सयानैं तेरे अजौं हू अँधेर है॥२८॥**

हे भाई ! तुम बाल्यावस्था में नासमझ रहे, उसके बाद तुमने गृहस्थी का बोझा ढोया, लोकमर्यादाओं के खातिर बहुत-से पाप उपार्जित किये, अपना नुकसान करके भी लोकबड़ाई प्राप्त की, अगले जन्म तक को भूल गये — कभी यह विचार तक न किया कि अगले भव में मेरा क्या होगा, फँसे रहे विषयों के बन्धनों में। और इसप्रकार तुम्हारी इस अंधे की बटेर के समान महादुर्लभ मनुष्यपर्याय की आयु, जो वैसे ही थोड़ी-सी थी, व्यर्थ ही चली गई है। अब तो सफेद बाल आ गये हैं — बुढ़ापा आ गया है और तुम्हें मालूम भी है कि मृत्यु आने ही वाली है। परन्तु अहो! तुम अभी भी आत्मा का हित करने के लिए सचेत नहीं हुए हो। ज्ञात होता है, तुम्हारे अन्दर अभी भी अँधेरा है।

१. पाठान्तर : अपनौ।

(मत्तगयन्द सवैया)

**बालपनै न सँभार सक्यौ कछु, जानत नाहिं हिताहित ही को।**
**यौवन वैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यौ लछमी को॥**
**यौं पन दोइ विगोइ दये नर, डारत क्यौं नरकै निज जी को।**
**आये हैं सेत अजौं शठ चेत, गई सुगई अब राख रही को॥२९॥**

हे मनुष्य ! बचपन में तो तू हिताहित को समझता नहीं था, इसलिए तब अपने को नहीं सँभाल सका, किन्तु युवावस्था में भी या तो तेरे हृदय में स्त्री बसी रही या तुझे निरन्तर धन-लक्ष्मी जोड़ने की अभिलाषा बनी रही और इस प्रकार तूने अपने जीवन के दो महत्त्वपूर्ण पन यों ही बिगाड़ दिये हैं। पता नहीं क्यों तुम इसप्रकार अपने आपको नरक में डाल रहे हो? अब तो सफेद बाल आ गये हैं — वृद्धावस्था आ गई है, अभी भी क्यों मूर्ख बने हो? अब तो चेतो ! गई सो गई ; पर जो शेष रही है, उसे तो रखो। अर्थात् कम से कम अब तो आत्मा का हित करने के लिए सचेत होओ।

(कवित्त मनहर)

**सार नर देह सब कारज कौं जोग येह,**
**यह तौ विख्यात बात वेदन मैं बँचै है।**
**तामैं तरुनाई धर्मसेवन कौ समै भाई,**
**सेये तब विषै जैसैं माखी मधु रचै है॥**
**मोहमद भोये धन-रामा हित रोज रोये,**
**यौंही दिन खोये खाय कोदौं जिम मचै है।**
**अरे सुन बौरे ! अब आये सीस धौरे अजौं,**
**सावधान हो रे नर नरक सौं बचै है॥३०॥**

शास्त्रों में कही गई यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है कि मनुष्यदेह ही सर्वोत्तम है, यही समस्त अच्छे कार्यों के योग्य है; उसमें भी इसकी युवावस्था धर्मसेवन का सर्वश्रेष्ठ समय होता है; परन्तु हे भाई ! ऐसे समय में तुम विषय-सेवन में इसप्रकार लिप्त रहे, मानों कोई मक्खी शहद में लिप्त हो।

हे भाई ! मोहरूपी मदिरा में डूबकर तुम निरन्तर कंचन और कामिनी के लिए रोते रहे — अपार कष्ट सहते रहे — और अपने अमूल्य दिनों को तुमने व्यर्थ ही इसप्रकार खो दिया, मानो कोदों खाकर मत्त हो रहे हो। अरे नादान ! सुनो, अब तो सिर में सफेद बाल आ गये हैं, अब तो सावधान होकर आत्मकल्याण कर लो, ताकि नरकादि कुगतियों से बच सको।

(मत्तगयन्द सवैया)

**बाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयौ नर भूलत त्यौं ही।**
**वृद्ध भये न भजै भगवान, विषै-विष खात अघात न क्यौं ही॥**
**सीस भयौ बगुला सम सेत, रह्यो उर अन्तर श्याम अजौं ही।**
**मानुषभौ मुकताफलहार, गँवार तगा हित तोरत यौं ही॥ ३१॥**

यह मनुष्य इसप्रकार मदोन्मत्त होकर सब-कुछ भूला हुआ है, मानों उसे कोई वातरोग हुआ हो अथवा किसी प्रेतबाधा ने घेर रखा हो।

यद्यपि इसकी वृद्धावस्था आ गई है, परन्तु अभी भी यह आत्मा और परमात्मा की आराधना नहीं करता है, अपितु विषतुल्य विषयों का ही सेवन कर रहा है और कभी उनसे अघाता ही नहीं है — उनसे कभी इसका मन भरता ही नहीं है।

यद्यपि इसका सम्पूर्ण सिर बगुले की भाँति एकदम सफेद हो गया है, किन्तु इसका अन्तर्मन अभी भी काला हो रहा है — अत्यधिक वृद्धावस्था में भी इसने रागादि विकारों का त्याग नहीं किया है।

अहो! यह मनुष्य-भव मोतियों का हार है, परन्तु यह अज्ञानी इसे मात्र धागे के लिए व्यर्थ ही तोड़े डाल रहा है।

## १८. संसारी जीव का चिंतवन

(मत्तगयंद सवैया)

**चाहत है धन होय किसी विध, तौ सब काज सरैं जिय राजी।**
**गेह चिनाय करूँ गहना कछु, ब्याहि सुता, सुत बाँटिये भाजी॥**
**चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगा जी।**
**खेलत खेल खिलारि गये, रहि जाइ रुपी शतरंज की बाजी॥ ३२॥**

संसारी प्राणी सोचता है कि यदि किसी तरह मेरे पास धन इकट्ठा हो जावे तो मेरे सारे काम सिद्ध हो जायें और मेरा मन पूरी तरह प्रसन्न हो जावे। धन होने पर मैं एक अच्छा-सा मकान बनाऊँ, थोड़ा-बहुत गहना (आभूषण) तैयार कराऊँ और बेटे-बेटियों का विवाह करके सारी समाज में मिठाइयाँ बँटवा दूँ। परन्तु इस प्रकार सोचते-सोचते ही सारा जीवन व्यतीत हो जाता है और अचानक यमराज हमला बोल देता है — शीघ्र मृत्यु आ जाती है। खिलाड़ी खेलते-खेलते ही चला जाता है और शतरंज की बाजी जहाँ की तहाँ जमी ही रह जाती है।

**विशेष** :— भाजी = विवाहादि उत्सवों में जो मिष्ठान्न बाँटा जाता है, उसे भाजी कहते हैं।

(मत्तगयंद सवैया)

**तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।**
**दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥**
**ऐसे बढ़े तो कहा भयौ हे नर! छोरि चले उठि अन्त छरे ही।**
**धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गरे[1] रहे ठाम धरे ही॥३३॥**

द्वार पर तीव्रगामी (स्वस्थ और फुर्तीले) घोड़े खड़े हो गये, सुन्दर-सुन्दर रथ आ गये, ऊँचे-ऊँचे मस्त हाथी खड़े हो गये, नौकर-चाकर इकट्ठे हो गये, बड़े-बड़े भवन और अटारियाँ बन गईं, धन भी अनाप-शनाप इकट्ठा हो गया, कोषों के कोष भर गये — करोड़ों खजाने भर गये। परन्तु हे भाई ! ऐसी उन्नति से क्या होता है? अन्त समय तुम्हें ये सब यहीं छोड़कर अकेले ही चला जाना होगा। ये सारे भवन खड़े ही रह जायेंगे, काम पड़े ही रह जायेंगे, दाम (धन) गड़े ही रह जायेंगे; सब कुछ जहाँ का तहाँ धरा ही रह जाएगा।

## १९. अभिमान-निषेध

(कवित्त मनहर)

**कंचन-भँडार भरे मोतिन के पुंज परे,**
**घने लोग द्वार खरे मारग निहारते।**
**जान चढ़ि डोलत हैं झीने सुर बोलत हैं,**
**काहु की हू ओर नेक नीके ना चितारते॥**
**कौलौं धन खांगे कोउ कहै यौं न लांगे,**
**तेई, फिरैं पाँय नांगे कांगे परपग झारते।**
**एते पै अयाने गरबाने रहैं विभौ पाय,**
**धिक है समझ ऐसी धर्म ना सँभारते॥३४॥**

जिनके यहाँ सोने के भण्डार भरे हैं, मोतियों के ढेर पड़े हैं, बहुत से लोग उनके आने की राह देखते हुए दरवाजे पर खड़े रहते हैं, जो वाहनों पर चढ़कर घूमते हैं, झीनी आवाज में बोलते हैं, किसी की भी ओर जरा ठीक से देखते तक नहीं हैं, जिनके बारे में लोग कहते हैं कि इनके पास इतना धन है कि उसे ये न जाने कब तक खायेंगे, इनका धन तो ऐसे-वैसे कभी खत्म ही नहीं होने वाला है; वे ही एक दिन (पापकर्म का उदय आने पर) कंगाल होकर नंगे पैरों फिरते हैं और दूसरों के पैरों की मिट्टी झाड़ते रहते हैं — सेवा करते फिरते हैं।

अहो ! ऐसी स्थिति होने पर भी अज्ञानी जीव वैभव पाकर अभिमान करते हैं। धिक्कार है उनकी उल्टी समझ को, जो कि वे धर्म नहीं सँभालते हैं।

१. पाठान्तर : डरे।

(कवित्त मनहर)

देखो भरजोबन मैं पुत्र को वियोग आयौ,
तैसैं ही निहारी निज नारी कालमग मैं।
जे जे पुन्यवान जीव दीसत हे या मही पै[१],
रंक भये फिरैं तेऊ पनहीं न पग मैं॥
एते पै अभाग धन-जीतब सौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहूँगौं अलग मैं।
आँखिन विलोकि अंध सूसे की अँधेरी करै,
ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मैं॥३५॥

अहो ! इस संसार में लोगों को भरी जवानी में पुत्र का वियोग हो जाता है और साथ ही अपनी पत्नी भी मृत्यु के मार्ग में देखनी पड़ती है।

तथा जो कोई पुण्यवान जीव दिखाई देते थे, वे भी एक दिन इस पृथ्वी पर इस तरह रंक होकर भटकते फिरे कि उनके पाँवों में जूती तक नहीं रही।

परन्तु अहो ! ऐसी स्थिति होने पर भी अज्ञानी प्राणी धन और जीवन से राग करता है, उनसे विरक्त नहीं होता। सोचता है कि मैं तो अलग (सुरक्षित) रहूँगा — मेरे साथ ऐसा कुछ भी नहीं घटित होने वाला है।

अपनी आँखों से देखता हुआ भी वह उस खरगोश की तरह अन्धा (अज्ञानी) बन रहा है जो अपनी आँखें बन्द करके समझता है कि सब जगह अँधेरा हो गया है, मुझे कोई नहीं देख रहा है, मुझ पर अब कोई आपत्ति आने वाली नहीं है।

अहो ! इस राजरोग का इलाज क्या है?

**विशेष** :— 'राजरोग' का अर्थ यहाँ महारोग भी है और आम रोग (सार्वजनिक बीमारी) भी। महारोग तो इसलिए क्योंकि यह सबसे बड़ा रोग है, अन्य ज्वर-कैंसरादि रोग तो शरीर में ही होते हैं, उपचार से ठीक भी हो जाते हैं और यदि ठीक न हों तो भी एक ही जन्म की हानि करते हैं, परन्तु उक्त महारोग तो आत्मा में होता है, किसी बाह्य उपचार से ठीक भी नहीं होता है और जन्म-जन्मांतरों में जीव की महाहानि करता है। और यह आम रोग इसलिए है, क्योंकि प्राय: सभी सांसारिक प्राणियों में पाया जाता है।

---

१. यहाँ 'दीसत हे या मही पै' के स्थान पर किसी-किसी प्रति में 'दीसत थे यान ही पै' — ऐसा पाठ भी मिलता है। उसे मानने पर अर्थ होगा — जो सदा वाहनों पर दिखाई देते थे।

(दोहा)

**जैन वचन अंजनवटी, आँजैं सुगुरु प्रवीन।**
**रागतिमिर तोहु न मिटै, बड़ो रोग लख लीन॥ ३६॥**

अहो ! इस अज्ञानी जीव की आँखों में प्रवीण गुरुवर जिनेन्द्र भगवान के वचनों की अंजनगुटिका लगा रहे हैं, परन्तु फिर भी इसका रागरूपी अन्धकार नहीं मिट रहा है। लगता है, रोग बहुत बड़ा है।

विशेष :— अंजनगुटिका एक प्रकार की औषधि होती है जिसे पानी में घिसकर रतौंधादि के लिए आँख में लगाया जाता है।

## २०. निज अवस्था-वर्णन

(कवित्त मनहर)

**जोई दिन कटै सोई आयु[1] मैं अवसि घटै,**
**बूँद-बूँद बीतै जैसैं अंजुली कौ जल है।**
**देह नित झीन होत, नैन-तेज हीन होत,**
**जोबन मलीन होत, छीन होत बल है॥**
**आवै जरा नेरी, तकै अंतक-अहेरी, आवै[2],**
**परभौ नजीक, जात[3] नरभौ निफल है।**
**मिलकै मिलापी जन पूँछत कुशल मेरी,**
**ऐसी दशा माहीं मित्र! काहे की कुशल है॥ ३७॥**

हे मित्र ! मुझसे मेरे मिलने-जुलने वाले मेरी कुशलता के बारे में पूछते हैं; परन्तु तुम्हीं बताओ, कुशलता है कहाँ? दशा तो ऐसी हो रही है:—

जिस प्रकार अंजुलि का जल जैसे-जैसे उसमें से बूँद गिरती जाती है वैसे-वैसे ही समाप्त होता जाता है; उसी प्रकार जैसे-जैसे दिन कटते जा रहे हैं वैसे-वैसे ही यह आयु भी निश्चित रूप से घटती जा रही है, दिनों-दिन शरीर दुर्बल होता जा रहा है, आँखों की रोशनी कम होती जा रही है, युवावस्था बिगड़ती जा रही है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, वृद्धावस्था पास आती जा रही है, मृत्युरूपी शिकारी इधर देखने लग गया है, परभव पास आता जा रहा है और मनुष्यभव व्यर्थ ही बीतता जा रहा है।

---

१. पाठान्तर : आव।
२. पाठान्तर : आय।
३. पाठान्तर : जाय।

## २१. बुढ़ापा

(मत्तगयंद सवैया)

**दृष्टि घटी पलटी तन की छबि, बंक भई गति लंक नई है।**
**रूस रही परनी घरनी अति, रंक भयौ परियंक लई है॥**
**काँपत नार बहै मुख लार, महामति संगति छाँरि गई[1] है।**
**अंग उपंग पुराने परे, तिशना उर और नवीन भई है॥३८॥**

अहो! यद्यपि वृद्धावस्था के कारण इस प्राणी की आँखों की रोशनी कमजोर हो गई है, शरीर की शोभा समाप्त हो गई है, चाल भी टेढ़ी हो गई है, कमर भी झुक गई है, ब्याहता पत्नी भी इससे अप्रसन्न हो गई है, यह बिल्कुल अनाथ हो गया है, चारपाई पकड़ ली है, इसकी गर्दन काँपने लगी है, मुँह से लार बहने लगी है, बुद्धि इसका साथ छोड़कर चली गई है और अंग-उपांग भी पुराने पड़ गये हैं; तथापि हृदय में तृष्णा और अधिक नवीन हो गई है।

(कवित्त मनहर)

**रूप कौ न खोज रह्यौ तरु ज्यौं तुषार दह्यौ,**
**भयौ पतझार किधौं रही डार सूनी-सी।**
**कूबरी भई है कटि दूबरी भई है देह,**
**ऊबरी इतेक आयु सेर माहिं पूनी-सी॥**
**जोबन नैं विदा लीनी जरा नैं जुहार कीनी,**
**हीनी भई सुधि-बुधि सबै बात ऊनीसी।**
**तेज घट्यौ ताव घट्यौ जीतव को चाव घट्यौ,**
**और सब घट्यौ एक तिस्ना दिन दूनी-सी॥३९॥**

वृद्धावस्था के कारण अब शरीर में सुन्दरता का नामोनिशान भी नहीं रहा है; शरीर ऐसा हो गया है मानों कोई वृक्ष बर्फ (पाला पड़ने) से जल गया हो अथवा मानों पतझड़ होकर कोई डाल सूनी हो गई हो; कमर में कूब निकल आई है, देह दुर्बल हो गई है, आयु इतनी अल्प रह गई है मानों एक किलो रूई में से एक पूनी, युवावस्था ने अब विदाई ले ली है और वृद्धावस्था ने आकर जुहार (नमस्कार) कर ली है, सारी सुधि-बुधि कम हो गई है, सभी बातें उन्नीसी रह गई हैं, तेज भी घट गया है, ताव (उत्साह) भी घट गया है और जीने का चाव (अभिलाषा) भी घट गया है; सब कुछ घट गया है, किन्तु एक तृष्णा ही ऐसी है जो दिन-प्रतिदिन दूनी होती जा रही है।

---

१. पाठान्तर : दई

(कवित्त मनहर)

**अहो इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी,**
**वीतराग-वानी सार दयारस-भीनी है।**
**जोबन के जोर थिर-जंगम अनेक जीव,**
**जानि जे सताये कछु करुना न कीनी है॥**
**तेई अब जीवराश आये परलोक पास,**
**लेंगे बैर देंगे दुख भई ना नवीनी है।**
**उनही के भय कौ भरोसौ जान काँपत है,**
**याही डर डोकरा ने लाठी हाथ लीनी है॥४०॥**

अहो! इस जीव ने युवावस्था में अपने अशुभकर्म के उदय के कारण दयारस से भरी हुई श्रेष्ठ वीतराग-वाणी को नहीं समझा और जवानी के जोर में अनेक त्रस-स्थावर जीवों को जान-बूझकर बहुत सताया, उनके प्रति किंचित् भी दया नहीं की; अतः अब वृद्धावस्था में वे सभी प्राणी, जिनको इसने युवावस्था में सताया था, इकट्ठे होकर मानों इससे बदला लेने के लिए आये हैं। पहले इसने दु:ख दिया था, सो अब वे इसे दु:ख देंगे — यह निश्चित बात है, कोई नई बात नहीं। यही कारण है कि यह वृद्ध उनसे डर कर काँपने लगा है और इसी डर से इसने अपने हाथ में लाठी ले ली है।

**विशेष :**—यहाँ इस छन्द में हमें कवि की अद्भुत कल्पना शक्ति के भी दर्शन होते हैं। लोक में हम देखते हैं कि वृद्धावस्था में मनुष्य काँपने लगता है और अपने हाथ में लाठी ले लेता है। कवि अपनी कल्पना से इसका कारण बताते हुए कहता है कि ऐसा इसलिए है कि यह बहुत भयभीत है, इसने अपनी युवावस्था में त्रस-स्थावर जीवों को सताया है, अतः अब इसे बहुत डर लग रहा है कि वे सब जीव आकर मुझसे बदला लेंगे। पहले मैंने उनको बहुत सताया था सो अब वे मुझे सताएँगे, अदले का बदला तो होता ही है न!

इसप्रकार यहाँ कवि ने अपनी कल्पनाशीलता से वृद्धावस्था का सजीव चित्र खींचते हुए हमें जीवदया-पालन की ममस्पर्शी प्रेरणा दी है। जो जीवदया नहीं पालते, वे बड़े अभागे हैं, उन्होंने वीतराग-वाणी के सार को जाना ही नहीं है।

(कवित्त मनहर)

**जाकौ इन्द्र चाहैं अहमिंद्र से उमाहैं जासौं,**
**जीव मुक्ति-माहैं जाय भौ-मल बहावै है।**
**ऐसौ नरजन्म पाय विषै-विष खाय खोयौ,**
**जैसैं काच साँटैं मूढ़ मानक गमावै है॥**
**मायानदी बूड़ भीजा काया-बल-तेज छीजा,**
**आया पन तीजा अब कहा बनि आवै है।**
**तातैं निज सीस ढोलै नीचे नैन किये डोलै,**
**कहा बढ़ि बोलै वृद्ध बदन दुरावै है॥४१॥**

अहो! जिसे इन्द्र और अहमिन्द्र भी उत्साहपूर्वक चाहते हैं और जिसे धारण कर जीव सर्व सांसारिक मलिनता को दूर कर मोक्ष में चला जाता है, ऐसे नर-जन्म को पाकर भी इस अज्ञानी जीव ने विषयरूपी विष खाकर उसे ऐसे खो दिया है, जैसे कोई मूर्ख काँच के बदले माणिक खो देता है।

तथा अब तो यह मायानदी में डूबकर इतना भीग गया है कि शरीर का सारा बल और तेज क्षीण हो गया है, तीसरापन आ गया है, अतः ऐसे में हो ही क्या सकता है? यही कारण है कि यह वृद्ध अपना सिर हिलाता हुआ नीची दृष्टि किये डोलता रहता है। अब बढ़-बढ़कर क्या बोले ? इसीलिए मुँह छुपाये रहता है।

(मत्तगयंद सवैया)

**देखहु जोर जरा भट कौ, जमराज महीपति कौ अगवानी।**
**उज्जल केश निशान धरैं, बहु रोगन की सँग फौज पलानी॥**
**कायपुरी तजि भाजि चल्यौ जिहि, आवत जोबनभूप गुमानी।**
**लूट लई नगरी सगरी, दिन दोय मैं खोय है नाम निशानी॥४२॥**

इस बुढ़ापेरूपी योद्धा का प्रभाव तो देखिये! यह यमराज (मृत्यु) रूपी राजा के आगमन की सूचना है, सफेद बाल इसका चिह्न (ध्वज) है, ढेरों रोगों की सेना इसके साथ दौड़ती आ रही है, यौवनरूपी अभिमानी राजा इसे आता हुआ देखकर अपनी कायारूपी नगरी को छोड़कर भाग छूटा है, इस बुढ़ापेरूपी योद्धा ने सारी कायारूपी नगरी लूट ली है और अब कुछ ही समय में यह उसका नामोनिशान ही मिटा देगा।

(दोहा)

**सुमतिहिं तजि जोबन समय, सेवहु विषय विकार।**
**खल साँटैं नहिं खोइये, जनम जवाहिर सार॥४३॥**

युवावस्था में सुमति का परित्याग कर विषय-विकारों का सेवन करने वाले हे भाई ! तुम ऐसा करके निःसार खली के बदले मनुष्यभवरूपी श्रेष्ठ व अमूल्य रत्न को व्यर्थ मत खोओ।

**विशेष :**—अनेक प्रतियों में 'सुमतिहिं तजि' के स्थान पर 'सुमती हित' — ऐसा पाठ मिलता है, पर उसका अर्थ समझ में नहीं आता।

## २२. कर्त्तव्य-शिक्षा

(कवित्त मनहर)

**देव-गुरु साँचे मान साँचौ धर्म हिये आन,**
**साँचौ ही बखान[1] सुनि साँचे पंथ आव रे।**
**जीवन की दया पाल झूठ तजि चोरी टाल,**
**देख ना विरानी बाल तिसना घटाव रे॥**
**अपनी बड़ाई परनिंदा मत करै भाई,**
**यही चतुराई मद मांस कौं बचाव रे।**
**साध खटकर्म साध-संगति में बैठ वीर,**
**जो है धर्मसाधन कौ तेरे चित चाव रे॥४४॥**

हे भाई! यदि तेरे हृदय में धर्मसाधन की अभिलाषा है तो तू सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा कर ! सच्चे धर्म को हृदय में धारण कर ! सच्चे शास्त्र सुन ! सच्चे मार्ग पर चल ! जीवों की दया पाल ! झूठ का त्याग कर ! चोरी का त्याग कर! पराई स्त्री को बुरी नजर से मत देख ! तृष्णा कम कर ! अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा मत कर ! और इसी में तेरी चतुराई है कि तू मद्य और मांस से बचकर रह ! देवपूजा आदि षट् आवश्यक कर्मों का पालन कर ! सज्जनों की संगति में बैठा कर!

**विशेष :**—१. कवि की काव्यकुशलता देखिए कि उसने 'जीवन की ....... घटाव रे' — इस एक ही पंक्ति में हिंसादि पाँचों पापों के त्याग की प्रेरणा दे दी है।

२. षट्आवश्यक कर्मों के नाम एवं स्वरूप के सम्बन्ध में इसी 'जैन शतक' का ४८वाँ छन्द विशेष रूप से देखने-योग्य है।

१. पाठान्तर : पुरान।

(कवित्त मनहर)

साँचौ देव सोई जामैं दोष कौ न लेश कोई,
वहै गुरु जाकैं उर काहु की न चाह है।
सही धर्म वही जहाँ करुना प्रधान कही,
ग्रन्थ जहाँ आदि अन्त एक-सौ निबाह है॥
ये ही जग रत्न चार इनकौं परख यार,
साँचे लेहु झूठे डार नरभौ कौ लाह है।
मानुष विवेक बिना पशु के समान गिना,
तातैं याहि बात ठीक पारनी सलाह है॥४५॥

सच्चा देव वही है जिसमें किंचित् भी दोष (क्षुधादि अठारह दोष एवं राग-द्वेषादि सर्व विकारी भाव) न हो, सच्चा गुरु वही है जिसके हृदय में किसी प्रकार की इच्छा नहीं हो, सच्चा धर्म वही है जिसमें दया की प्रधानता हो, सच्चा शास्त्र वही है जिसमें आदि से अन्त तक एकरूपता का निर्वाह हो अर्थात् जो पूर्वापर-विरोध से रहित हो।

इसप्रकार हे मित्र ! इस जगत् में वस्तुतः ये चार ही रत्न हैं :— देव, गुरु, शास्त्र और धर्म; अतः तू इनकी परीक्षा कर और पश्चात् सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म को ग्रहण कर तथा झूठे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म का त्याग कर। इसी में मनुष्यभव की सार्थकता है।

हे भाई! विवेकहीन मनुष्य पशु के समान माना गया है, अतः भवसागर से पार उतारने वाली उचित सलाह यही है कि तुम उक्त चारों बातों का सम्यक् प्रकार से निश्चय करो।

## २३. सच्चे देव का लक्षण

(छप्पय)

जो जगवस्तु समस्त हस्ततल जेम निहारै।
जगजन को संसार—सिंधु के पार उतारै॥
आदि-अन्त-अविरोधि वचन सबको सुखदानी।
गुन अनन्त जिहँ माहिं दोष[1] की नाहिं निशानी॥
माधव महेश ब्रह्मा किधौं, वर्धमान कै बुद्ध यह।
ये चिहन जान जाके चरन, नमो नमो मुझ देव वह॥४६॥

---

१. पाठान्तर : रोग

जो जगत् की समस्त वस्तुओं को अपनी हथेली के समान प्रत्यक्ष या स्पष्ट रूप से जानता हो, संसारी प्राणियों को संसार-सागर से पार उतारता हो, जिसके वचन पूर्वापर-विरोध से रहित एवं प्राणिमात्र के हितकारक हों और जिसमें गुण तो अनन्त हों, पर दोष (क्षुधादि अठारह दोष या राग-द्वेषादि) किंचित् भी न हो; वही सच्चा देव है। फिर चाहे वह नाम से माधव हो, महेश हो, ब्रह्मा हो या बुद्ध हो। मैं तो जिसमें उक्त सर्वज्ञता, हितोपदेशिता और वीतरागता — ये गुण पाये जाते हों, उस देव को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

## २४. यज्ञ में हिंसा का निषेध

(कवित्त मनहर)

**कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,**
**होमत हुताशन मैं कौन सी बड़ाई है।**
**स्वर्गसुख मैं न चहौं 'देहु मुझे' यौं न कहौं,**
**घास खाय रहौं मेरे यही मनभाई है॥**
**जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है,**
**जग्य जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।**
**डारे क्यों न वीर यामैं अपने कुटुम्ब ही कौं?**
**मोहि जिन जारे जगदीश की दुहाई है॥४७॥**

यज्ञ में बलि के लिए प्रस्तुत असहाय पशु पूछता है कि —

हे यज्ञ करने वाले ! मुझे अग्नि में होम देने में तुम्हारी क्या बड़ाई है? अथवा इसमें तुम्हें क्या लाभ है? सुनो ! मुझे स्वर्गसुख नहीं चाहिए और न ही मैं तुमसे उसे माँगता हूँ। 'मुझे कुछ दो' — ऐसा मैं तुमसे नहीं कहता हूँ। मैं तो बस घास खाकर रहता हूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

और हे वीर पुरुष ! जो तुम ऐसा समझते हो कि यज्ञ में बलि के रूप में होम दिया जाने वाला जीव वेदानुसार सुखदायक स्वर्ग प्राप्त करता है, तो तुम इस यज्ञाग्नि में अपने कुटुम्ब को ही क्यों नहीं डालते हो? मुझे तो मत जलाओ, तुम्हें भगवान की सौगंध है।

## २५. सातों वार गर्भित षट्कर्मोपदेश

(छप्पय)

अघ-अँधेर-आदित्य नित्य स्वाध्याय करिज्जै।
सोमोपम संसारतापहर तप कर लिज्जै।
जिनवरपूजा नियम करहु नित मंगलदायनि।
बुध संजम आदरहु धरहु चित श्रीगुरु-पांयनि॥
निजवित समान अभिमान विन, सुकर सुपत्तहिं दान कर।
यौं सनि सुधर्म षटकर्म भनि, नरभौ-लाहौ लेहु नर॥४८॥

प्रतिदिन, पापरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए जो सूर्य के समान है — ऐसा स्वाध्याय कीजिये, संसाररूपी ताप को हरने के लिये जो चन्द्रमा के समान है — ऐसा तप कीजिये, जिनेन्द्र देव की पूजा कीजिये, विवेक सहित संयम का आदर कीजिये, श्रीगुरु-चरणों की उपासना कीजिये और अपनी शक्ति के अनुसार अभिमान-रहित होकर सुपात्रों को अपने शुभ हाथों से दान दीजिये।

इस प्रकार हे भाई ! षट् आवश्यक कार्यों में संलग्न होकर मनुष्य भव का लाभ लीजिये।

**विशेष :**—इस छन्द में रविवार से शनिवार तक सात वारों के नाम का क्रमशः संकेत किया गया है। इससे काव्य में चमत्कार तो उत्पन्न हुआ ही है, भाव भी उच्च हुये हैं। तात्पर्य यह निकला कि देवपूजादि षडावश्यक कर्म केवल रविवार या केवल सोमवार आदि को ही करने योग्य नहीं हैं, अपितु सातों वारों को प्रतिदिन अवश्य करने योग्य हैं।

(दोहा)

ये ही छह विधि कर्म भज, सात विसन तज वीर।
इस ही पैंडे पहुँचिहै, क्रम क्रम भवजल-तीर॥४९॥

हे भाई ! (छन्द-संख्या ४८ में कहे गये) षट् आवश्यक कर्मों का पालन करो और (छन्द-संख्या ५० में बताये जानेवाले) सप्त व्यसनों का त्याग करो। तुम इसी तरह क्रम-क्रम से संसार-सागर का किनारा प्राप्त कर लोगे।

## २६. सप्त व्यसन

(दोहा)

जूआखेलन मांस मद, वेश्याविसन शिकार।
चोरी पर-रमनी-रमन, सातौं पाप निवार॥५०॥

जुआ खेलना, मांसभक्षण, मद्यपान, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और परस्त्री-रमण — ये सात व्यसन हैं। तथा ये सातों पापरूप हैं, अतः इनका त्याग अवश्य करो।

## २७. जुआ-निषेध

(छप्पय)

सकल-पापसंकेत आपदाहेत कुलच्छन।
कलहखेत दारिद्र देत दीसत निज अच्छन॥
गुनसमेत जस सेत केत रवि रोकत जैसै।
औगुन-निकर-निकेत लेत लखि बुधजन ऐसै॥
जूआ समान इह लोक में, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनराय के खेल कौ, कौतुक हू नहिं देखिये॥५१॥

जुआ नामक प्रथम व्यसन प्रत्यक्ष ही अपनी आँखों से अनेक दोषों से युक्त दिखाई देता है।

वह सम्पूर्ण पापों को आमंत्रित करने वाला है, आपत्तियों का कारण है, खोटा लक्षण है, कलह का स्थान है, दरिद्रता देने वाला है, अनेक अच्छाइयाँ करके प्राप्त किये हुए उज्ज्वल यश को भी उसीप्रकार ढक देने वाला है जिसप्रकार केतु सूर्य को ढँकता है, ज्ञानी पुरुष इसे अनेक अवगुणों के घर के रूप में देखते हैं, इस दुनिया में जुआ के समान अन्य कोई अनीति नहीं दिखाई देती; अतः इस व्यसनराज के खेल को कभी कौतूहल मात्र के लिए भी नहीं देखना चाहिए।

**विशेष :**—यहाँ जुआ को सातों व्यसनों में सबसे पहला ही नहीं, सबसे बड़ा भी बताया गया है तथा उसे अन्य भी अनेक दुर्गुणों का जनक बताया गया है। सो ऐसा ही अभिप्राय अनेक पूर्वाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। उदाहरणार्थ 'पद्मनंदि-पंचविंशतिका' के धर्मोपदेशनाधिकार के १७वें-१८वें श्लोकों को देखना चाहिए।

## २८. मांसभक्षण-निषेध

(छप्पय)

जंगम जिय कौ नास होय तब मांस कहावै।
सपरस आकृति नाम गन्ध उर घिन उपजावै॥
नरक जोग[1] निरदई खाहिं नर नीच अधरमी।
नाम लेत तज देत असन उत्तमकुलकरमी॥
यह निपटनिंद्य अपवित्र अति, कृमिकुल-रास-निवास नित।
आमिष अभच्छ यातैं[2] सदा, बरजौ दोष दयालचित!॥५२॥

मांस की प्राप्ति त्रस जीवों का घात होने पर ही होता है। मांस का स्पर्श, आकार, नाम और गन्ध — सभी हृदय में ग्लानि उत्पन्न करते हैं। मांस का भक्षण नरक जाने की योग्यतावाले निर्दयी, नीच और अधर्मी पुरुष करते हैं; उत्तम कुल और कर्म वाले तो इसका नाम लेते ही अपना भोजन तक छोड़ देते हैं। मांस अत्यन्त निन्दनीय है, अत्यन्त अपवित्र है और उसमें सदैव अनन्त जीवसमूह पाये जाते हैं। यही कारण है कि मांस सदैव अभक्ष्य बतलाया गया है। हे दयालु चित्त वाले! तुम इस मांस-भक्षणरूप दोष का त्याग करो।

## २९. मदिरापान-निषेध

(दुर्मिल सवैया)

कृमिरास कुवास सराय दहैं, शुचिता सब छीवत जात सही।
जिहिं पान कियैं सुधि जात हियैं, जननीजन जानत नारि यही॥
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुल मैं न गही।
धिक है उनकौ वह जीभ जलौ, जिन मूढ़न के मत लीन कही॥५३॥

मदिरा जीवसमूहों का ढेर है, दुर्गन्धयुक्त है, वस्तुओं को सड़ाकर और जलाकर तैयार की जाती है। निश्चय ही उसके स्पर्श करने मात्र से व्यक्ति की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है और उसे पी लेने पर तो सारी सुध-बुध ही हृदय से जाती रहती है। मदिरा पीनेवाला व्यक्ति माता आदि को भी पत्नी समझने लगता है। इस दुनिया में मदिरा के समान त्याज्य वस्तु अन्य कोई नहीं है, इसलिए मदिरा उत्तम कुलों में ग्रहण नहीं की जाती है। तथापि जो मूर्ख मदिरा को ग्रहण करने योग्य बतलाते हैं, उन्हें धिक्कार है, उनकी जीभ जल जावे।

१. पाठान्तर : जौन।
२. पाठान्तर : याकौ।

## ३०. वेश्यासेवन-निषेध

(सवैया)

**धनकारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनकौ।**
**लव चाखत नीचन के मुँह की, शुचिता सब जाय छियैं जिनकौ॥**
**मद मांस बजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिन कौं।**
**गनिका सँग जे शठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौं॥५४॥**

पापिनी वेश्या धन के लिए प्रेम करती है। यदि व्यक्ति के पास धन नहीं बचे तो सारा प्रेम ऐसे तोड़ फेंकती है जैसे तिनका।

वेश्या अधम व्यक्तियों के होठों का चुम्बन करती है अथवा उनके मुँह से निःसृत लार आदि अपवित्र वस्तुओं का स्वाद लेती है। सम्पूर्ण शुचिता वेश्या के छूने से समाप्त हो जाती है।

वेश्या सदा बाजारों में मांस-मदिरा खाती-पीती फिरती है। वेश्या-व्यसन से घृणा वे ही नहीं करते, जो व्यसनों में अंधे हो रहे हैं।

जो मूर्ख वेश्या-सेवन में लीन हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है।

## ३१. आखेट-निषेध

(कवित्त मनहर)

**कानन मैं बसै ऐसौ आन न गरीब जीव,**
**प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूँजी जिस यहै है।**
**कायर सुभाव धरै काहू सौं न द्रोह करे,**
**सबही सौं डरै दाँत लियैं तृन रहै हैं॥**
**काहू सौं न दोष पुनि काहू पै न पोष चहै,**
**काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।**
**नेकु स्वाद सारिवे कौं ऐसे मृग मारिवे कौं,**
**हा हा रे कठोर तेरौ कैसै कर वहै है॥५५॥**

जो जंगल में रहता है, सबसे गरीब है, अपने प्राण ही जिसकी प्राणों से प्यारी पूँजी है, जो स्वभाव से ही कायर है, सभी से डरता रहता है, किसी से द्रोह नहीं करता, बेचारा अपने दाँतों में तिनका लिये रहता है, किसी पर नाराज नहीं होता, किसी से अपने पालन-पोषण की अपेक्षा नहीं रखता, परोक्ष में किसी के दोष नहीं कहता फिरता अर्थात् पीठ पीछे परनिन्दा करने का दुर्गुण भी जिसमें नहीं है, ऐसे 'मृग' को अपने जरा-से स्वाद के लिए मारने हेतु रे रे कठोर हृदय! तेरा हाथ उठता कैसे है?

## ३२. चोरी-निषेध

(छप्पय)

चिंता तजै न चोर रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक लोक निर्दइ मिलि मारै॥
प्रजापाल करि कोप तोप सौं रोप उड़ावै।
मरै महादुख पेखि अंत नीची गति पावै॥
अति विपतिमूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
परवित अदत्त अंगार गिन, नीतिनिपुन परसैं न कर॥५६॥

चोर कभी भी और कहीं भी निश्चिंत नहीं होता, हमेशा और हर जगह चौकन्ना रहता है। देख लेने पर स्वामी (चोरी की गई वस्तु का मालिक) उसकी पिटाई करता है। अन्य अनेक व्यक्ति भी मिल कर उसे निर्दयतापूर्वक बहुत मारते हैं। राजा भी क्रोध करके उसे तोप के सामने खड़ा करके उड़ा देता है। चोर इस भव में भी बहुत दु:ख भोगकर मरता है और परभव में भी उसे अधोगति प्राप्त होती है।

चोरी नामक व्यसन अनेक विपत्तियों की जड़ है। उसमें प्रत्यक्ष ही बहुत दु:ख दिखाई देता है।

समझदार व्यक्ति तो दूसरे के अदत्त (बिना दिये हुए) धन को अंगारे के समान समझकर कभी अपने हाथ से छूते भी नहीं।

**विशेष** :—चोरी के सम्बन्ध में 'लाटी संहिता' में भी कहा गया है कि चोरी करनेवाले पुरुष को अवश्य महापाप उत्पन्न होता है, क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरने में दु:ख होता है वैसा ही दु:ख धन के नाश हो जाने पर होता है। दूसरे का धन हरण करने से व चोरी करने से जो नरक आदि दुर्गतियों में महादु:ख होता है वह तो होता ही है, किन्तु ऐसे लोगों को इस जन्म में ही जो दु:ख होते हैं, उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता। यथा—

"ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम्।
यादृशं मरणे दु:खं तादृशं द्रविणक्षतौ॥ १६८॥
आस्तां परस्वस्वीकाराद्यदु:खं नरकादिषु।
यदत्रैव भवेद् दु:खं तद्वक्तुं कः क्षमो नरः॥ १७०॥"

## ३३. परस्त्रीसेवन-निषेध

(छप्पय)

**कुगति-वहन गुनगहन-दहन दावानल-सी है।**
**सुजसचंद्र-घनघटा देहकृशकरन खई[1] है॥**
**धनसर-सोखन धूप धरमदिन-साँझ समानी।**
**विपतिभुजंग-निवास बांबई वेद बखानी॥**
**इहि विधि अनेक औगुन भरी, प्रानहरन फाँसी प्रबल।**
**मत करहु मित्र ! यह जान जिय, परवनिता सौं प्रीति पल॥५७॥**

परनारी-सेवन खोटी गति में ले जाने के लिए वाहन है, गुणसमूह को जलाने के लिए जंगल की सी भयानक आग है, उज्ज्वल यशरूपी चन्द्रमा को ढकने के लिए बादलों की घटा है, शरीर को कमजोर करने के लिए क्षयरोग (टी.बी.) है, धनरूपी सरोवर को सुखाने के लिए धूप है, धर्मरूपी दिन को अस्त करने के लिए सन्ध्या है और विपत्तिरूपी सर्पों के निवास के लिए बाँबी है। शास्त्रों में परनारी-सेवन को इसी प्रकार के अन्य भी अनेक दुर्गुणों से भरा हुआ कहा गया है। वह प्राणों को हरने के लिए प्रबल फाँसी है।

ऐसा हृदय में जानकर हे मित्र ! तुम कभी पल भर भी परस्त्री से प्रेम मत करो।

## ३४. परस्त्रीत्याग-प्रशंसा

(दुर्मिल सवैया)

**दिवि दीपक-लोय बनी वनिता, जड़जीव पतंग जहाँ परते।**
**दुख पावत प्रान गवाँवत हैं, बरजे न रहैं हठ सौं जरते॥**
**इहि भाँति विचच्छन अच्छन के वश, होय अनीति नहीं करते।**
**परती लखि जे धरती निरखैं, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते॥५८॥**

परनारी एक ऐसी ज्वलित दीपक की लौ है जिस पर मूर्ख प्राणीरूपी पतंगे गिरते हैं, दुःख पाते हैं और जलकर प्राण गँवा देते हैं; रोकने और समझाने पर भी नहीं मानते, हठपूर्वक जलते ही हैं।

विवेकी पुरुष इन्द्रियों के वश होकर ऐसा अनुचित कार्य नहीं करते।

अहो ! जो व्यक्ति परनारी को देखकर अपनी नजर धरती की ओर नीची कर लेते हैं; वे धन्य हैं! धन्य हैं!! धन्य हैं!!!

---

१. पाठान्तर : खसी।

(दुर्मिल सवैया)

**दिढ़ शील शिरोमन कारज मैं, जग मैं जस आरज तेइ लहैं।**
**तिनके जुग लोचन वारिज हैं, इहि भाँति अचारज आप कहैं॥**
**परकामिनी कौ मुखचन्द चितैं, मुँद जांहि सदा यह टेव गहैं।**
**धनि जीवन है तिन जीवन कौ, धनि माय उनैं उर मांय[१] वहैं॥।५९॥**

जो व्यक्ति शीलरूपी सर्वोत्तम कार्य में दृढ़तापूर्वक लगे हैं, वे ही आर्य पुरुष हैं — श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे ही जगत् में यश प्राप्त करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि ऐसे ही व्यक्तियों की आँखें वास्तव में कमल की उपमा देने लायक हैं, क्योंकि वे आँखें परस्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर सदा मुँद जाने की आदत ग्रहण किये हुए हैं।

धन्य है ऐसे व्यक्तियों का जीवन तथा धन्य हैं उनकी मातायें जो ऐसे आर्यपुरुषों को अपने गर्भ में धारण करती हैं।

## ३५. कुशील-निन्दा

(मत्तगयन्द सवैया)

**जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसैं विगसैं बुधिहीन बड़ेरे।**
**जूँठन की जिमि पातर पेखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे॥**
**है जिनकी यह टेव वहै, तिनकौं इस भौ अपकीरति है रे।**
**है परलोक विषैं दृढ़दण्ड[२], करै शतखण्ड सुखाचल केरे॥६०॥**

जो निर्लज्ज व्यक्ति परस्त्री को देखकर हँसते हैं, खिलते हैं — प्रसन्न होते हैं, वे बड़े बुद्धिहीन (बेवकूफ) हैं। परस्त्री को देखकर उनका प्रसन्न होना ऐसा है, मानों झूँठन की पत्तल देखकर कोई कुत्ता अपने मन में बहुत प्रसन्न हो रहा हो।

जिन व्यक्तियों की ऐसी (परस्त्री को देखकर निर्लज्जतापूर्वक हँसने और प्रसन्न होने की) खोटी आदत पड़ गई है, उनकी इस भव में बदनामी होती है, और परभव में भी कठोर दण्ड मिलता है, जो उनके सुखरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है अर्थात् समस्त सुख-शांति का विनाश कर देता है।

---

१. पाठान्तर : माँझ।

२. पाठान्तर : बिजुरी सु।

## ३६. एक-एक व्यसन का सेवन करने वालों के नाम व फल

(छप्पय)

प्रथम पांडवा भूप खेलि जूआ सब खोयौ।
मांस खाय बक राय पाय विपदा बहु रोयौ॥
विन जानैं मदपानजोग जादौगन दज्झे।
चारुदत्त दुख सह्यौ[1] वेसवा-विसन अरुज्झे॥
नृप ब्रह्मदत्त आखेट सौं, द्विज शिवभूति अदत्तरति।
पर-रमनि राचि रावन गयौ, सातौं सेवत कौन गति॥६१॥

पांडवों के राजा युधिष्ठिर ने जुआ नामक प्रथम व्यसन के सेवन से सब कुछ खो दिया, राजा बक ने मांस खाकर बहुत कष्ट उठाये, यादव बिना जाने मद्यपान कर जल मरे, चारुदत्त ने वेश्याव्यसन में फँसकर बहुत दु:ख भोगे, राजा ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती) शिकार के कारण नरक गया, चोरी के कारण — धरोहर के प्रति नियत खराब कर लेने के कारण — शिवभूति ब्राह्मण ने बहुत दु:ख सहा, और रावण परस्त्री में आसक्त होकर नरक गया।

अहो ! जब एक-एक व्यसन का सेवन करने वालों की ही यह दुर्दशा हुई, तो जो सातों का सेवन करते हैं उनकी क्या दुर्दशा होगी?

**विशेष** :—प्रस्तुत छन्द में कवि ने सातों व्यसनों के दृष्टान्तस्वरूप क्रमश: सात कथा-प्रसंगों की ओर संकेत किया है, जिनकी पूर्ण कथा प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में प्राप्त होती है। अतिसंक्षेप में वे इसप्रकार हैं —

१. **जुआ** : इसमें महाराजा युधिष्ठिर की कथा सुप्रसिद्ध है। एक बार युधिष्ठिर ने कौरवों के साथ जुआ खेलते हुए अपना सब-कुछ दाव पर लगा दिया था और पराजित होकर उन्हें राज्य छोड़कर वन में जाना पड़ा था। वन में उन्होंने अपार दु:ख सहन किये।

२. **मांस-भक्षण** : मनोहर देश के कुशाग्र नगर में एक भूपाल नाम का धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसने नगर में जीव-हिंसा पर प्रतिबंध घोषित कर रखा था। किन्तु उसका अपना पुत्र बक ही बड़ा मांस-लोलुपी था। वह मांस के बिना नहीं रह सकता था, अत: उसने रसोइये को धनादि का लालच देकर अपने लिए मांसाहार का प्रबन्ध कर लिया। एक दिन रसोइये को किसी भी पशु-पक्षी

---

१. पाठान्तर : सहे।

का मांस नहीं मिला, अतः उसने श्मशान में से गड़े हुए बालक को निकालकर उसका ही मांस राजकुमार बक को खिला दिया। राजकुमार बक को यह मांस बहुत स्वादिष्ट लगा। उसने प्रतिदिन ऐसा ही मांस खाने की अभिलाषा व्यक्त की। रसोइया धनादि के लालच में ऐसा ही करने को तैयार हो गया। अब वह प्रतिदिन नगर के बालकों को मिठाई देने के बहाने बुलाता और उनमें से किसी एक बालक को छुपकर मार डालता। नगर में बालकों की संख्या घटने लगी। अंत में सारा भेद खुल गया। राजकुमार बक को देश निकाला मिला। वह इधर-उधर भटकता-भटकता नरभक्षी राक्षस बन गया। एक बार वसुदेव से उसकी भेंट हुई। वसुदेव ने उसे मार डाला।

३. **मदिरापान :** भगवान नेमिनाथ के समय की बात है। एक बार द्वारिका-निवासी यादवगण (यदुवंशी मनुष्य) वन-क्रीड़ा हेतु नगर से बाहर निकले। वहाँ उन्हें बहुत प्यास लगी और उन्होंने अनजाने में ही एक ऐसे जलाशय का जल पी लिया जो वस्तुतः सामान्य जल नहीं, अपितु कदम्ब फलों के कारण मदिरा ही बन चुका था। इससे वे सब मदोन्मत्त होकर द्वीपायन मुनि को परेशान करने लगे। परिणामस्वरूप द्वीपायन की क्रोधाग्नि में जलकर समूची द्वारिका के साथ-साथ वे भी भस्म हो गये।

४. **वेश्यासेवन :** चम्पापुरी में सेठ भानुदत्त और सेठानी सुभद्रा के एक चारुदत्त नाम का वैराग्य प्रकृति का पुत्र था। परन्तु उसे विषयभोगों की ओर से उदासीन रहकर उसकी माँ को बहुत दुःख होता था, अतः माँ ने उसे व्यभिचारी पुरुष की संगति में डाल दिया। इससे चारुदत्त शनैः-शनैः विषयभोगों में ही बुरी तरह फँस गया। वह १२ वर्ष तक वेश्यासेवन में लीन रहा। उसने अपना धन, यौवन, आभूषण आदि सब कुछ लुटा दिया। और अन्त में जब उसके पास कुछ भी शेष नहीं बचा तो वसन्तसेना वेश्या ने उसे घर से निकलवा कर गन्दे स्थान पर फिकवा दिया।

५. **शिकार :** राजा ब्रह्मदत्त शिकार का प्रेमी था। वह प्रतिदिन वन के निरीह प्राणियों का शिकार करके घोर पाप का बन्ध करता था। एक दिन उसे कोई शिकार नहीं मिला। उसने इधर-उधर देखा तो एक मुनिराज बैठे थे। उसने समझा कि इन्हीं के कारण आज मुझे कोई शिकार नहीं मिला है। उसने अपने मन में मुनिराज से बदला लेने की ठानी। दूसरे दिन जब मुनिराज आहार हेतु गये, तब उसने उस शिला को अत्यधिक गर्म कर दिया। मुनिराज आहार करके आये तो अचल योग धारण करके उसी शिला पर बैठ गये। उनका शरीर जलने लगा, पर

वे विचलित नहीं हुये। परिणामस्वरूप मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उधर राजा ब्रह्मदत्त को घर जाने के बाद भयंकर कोढ़ हो गया। उसके शरीर से दुर्गंध आने लगी। सबने उसका साथ छोड़ दिया। वह मरकर सातवें नरक में गया। नरक से निकलने के बाद महादुर्गन्ध शरीरवाली धीवर कन्या हुआ और उसके बाद भी अनेक जन्मों में उसने वचनातीत कष्टों को सहन किया।

६. **चोरी :** सिंहपुर नगर में एक शिवभूति नाम का पुरोहित था। यद्यपि वह बड़ा चोर और बेईमान था, पर उसने मायाचारी से अपने संबंध में यह प्रकट कर रखा था कि मैं बड़ा सत्य बोलने वाला हूँ। वह कहता था कि देखो, मैं अपने पास सदा यह चाकू रखता हूँ, ताकि झूठ बोलूँ तो तुरन्त अपनी जीभ काट डालूँ। इससे अनेक भोले लोग उसे 'सत्यघोष' ही कहने-समझने लगे। यद्यपि अनेक लोग इस शिवभूति पुरोहित के चक्कर में आकर ठगाये जा चुके थे, पर कोई उसे झूठा नहीं सिद्ध कर पाता था। एक बार एक समुद्रदत्त नामक वणिक विदेश जाते समय अपने पाँच बहुमूल्य रत्नों को उस शिवभूति के पास रखकर गया और वहाँ से लौटकर उसने अपने रत्न वापस माँगे। हमेशा की तरह इस बार भी शिवभूति ने साफ-साफ इनकार कर दिया। बेचारा समुद्रदत्त दुःखी होकर रोता हुआ इधर-उधर घूमने लगा। आखिरकार रानी की कुशलता से शिवभूति का अपराध सामने आ गया। दण्डस्वरूप उसे तीन सजाएँ सुनाई गईं कि या तो वह अपना सर्वस्व देकर देश से बाहर चला जावे अथवा पहलवान के ३२ मुक्के सहन करे अथवा तीन परात गोबर खाए। उसने सर्वप्रथम तीन परात गोबर खाना स्वीकार किया। पर नहीं खा सका। फिर उसने पहलवान के ३२ मुक्के खाना स्वीकार किया, पर वे भी उससे सहन नहीं हुए और अन्त में उसे अपना सर्वस्व देकर नगर से बाहर जाना पड़ा।

७. **परस्त्री-सेवन :** इसमें रावण की कथा सर्वजनप्रसिद्ध ही है, अतः उसे यहाँ नहीं लिखते हैं। रावण सीता के प्रति दुर्भाव रखने के कारण ही नरक गया।

(दोहा)

**पाप नाम नरपति करै, नरक नगर मैं राज।**
**तिन पठये पायक विसन, निजपुर वसती काज॥६२॥**

एक पाप नाम का राजा है जो नरकरूपी नगर में राज्य करता है और उसी ने अपने नगर की समृद्धि के लिए इस लोक में अपने सप्त व्यसनरूपी दूत छोड़ रखे हैं।

(दोहा)

**जिनकैं जिन के वचन की, बसी हिये परतीत।**
**विसनप्रीति ते नर तजौ, नरकवास भयभीत॥६३॥**

जिनके हृदय में जिनेन्द्र भगवान के वचनों की प्रतीति हुई हो और जो नरक-वास से भयभीत हों, वे इन व्यसनों के प्रति अनुराग का त्याग करो।

## ३७. कुकवि-निन्दा

(मत्तगयन्द सवैया)

**राग उदै जग अंध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गवाँई।**
**सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक[1] सेवन की सुघराई॥**
**ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।**
**अंध असूझन की अँखियान मैं, झोंकत हैं रज रामदुहाई॥६४॥**

अहो! रागभाव के उदय से यह दुनिया वैसे ही इतनी अंधी हो रही है कि सब लोग अपनी सारी मान-मर्यादा खोये बैठे हैं। व्यक्ति बिना ही सिखाये व्यसनादि-सेवन में कुशलता प्राप्त कर रहे हैं।

ऊपर से, जो कुकवि उन्हीं व्यसनादि के पोषण करने वाले काव्यों की रचना करते हैं, उनकी निष्ठुरता का क्या कहना? वे बड़े निर्दयी हैं। भगवान की सौगन्ध, वे कुकवि, जो लोग अंधे हैं — जिन्हें कुछ नहीं दीखता, उनकी आँखों में धूल झोंक रहे हैं।

(मत्तगयन्द सवैया)

**कंचन कुम्भन की उपमा, कह देत उरोजन को कवि बारे।**
**ऊपर श्याम विलोकत कै[2], मनिनीलम की ढकनी ढँकि छारे॥**
**यौं सत बैन कहैं न कुपंडित, ये जुग आमिषपिंड उघारे।**
**साधन झार दई मुँह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥६५॥**

बावले कवि (कुकवि) नारियों के स्तनों को स्वर्णकलश और स्तनों के अग्रभाग को कालिमा के कारण नीलमणि के ढक्कन की उपमा देते हैं। कहते हैं कि नारियों के स्तन नीलमणि के ढक्कन से ढके हुए स्वर्ण-कलश हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह नहीं है। वे कुकवि सही-सही बात नहीं कहते हैं। सही बात

१. पाठान्तर : विषयादिक।
२. पाठान्तर : वे।

तो यह है कि नारियों के स्तन स्पष्टतया दो मांसपिण्ड हैं, जिनके मुँह में साधु पुरुषों ने राख भर दी है (अर्थात् उनकी अत्यन्त उपेक्षा कर दी है), इसी वजह से उनका अग्रभाग काला हो गया है।

(मत्तगयन्द सवैया)

**ए विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कसतूरि बनाई।**
**दीन कुरंगन के तन मैं, तृन दंत धरैं करुना किन[1] आई॥**
**क्यौं न करी तिन जीभन जे, रसकाव्य करैं पर कौं दुखदाई।**
**साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दुहू सधते विसरी चतुराई॥६६॥**

हे विधाता ! तुमसे भूल हो गई। तुम नहीं समझ पाये कि कस्तूरी कहाँ बनाना चाहिए और तुमने बेचारे उन असहाय हिरणों के शरीर में कस्तूरी बना दी जो अपने दाँतों में घास-तृण लिये रहते हैं। तुम्हें इन हिरणों पर दया क्यों नहीं आई?

हे विधाता ! तुमने यह कस्तूरी उनकी जीभ पर क्यों नहीं बनाई जो जगत् का अहित करने वाली काव्यरचना करते हैं? ऐसा करने से सज्जनों पर कृपा भी हो जाती और दुर्जनों को दण्ड भी मिल जाता, दोनों ही प्रयोजन सिद्ध हो जाते।

पर क्या बतायें, तुम तो अपनी सारी चतुराई भूल गये।

## ३८. मन-रूपी हाथी

(छप्पय)

**ज्ञानमहावत डारि सुमतिसंकल गहि खंडै।**
**गुरु-अंकुश नहिं गिनै ब्रह्मव्रत-विरख विहंडै॥**
**कर सिधंत-सर न्हौन केलि अघ-रज सौं ठानै।**
**करन-चपलता धरै कुमति-करनी रति मानै॥**
**डोलत सुछन्द मदमत्त अति, गुण-पथिक न आवत उरै।**
**वैराग्य-खंभ तैं बाँध नर, मन-मतंग विचरत बुरै॥६७॥**

हे मनुष्य ! तुम्हारा मनरूपी हाथी बुरी तरह विचरण कर रहा है, तुम इसे वैराग्यरूपी स्तंभ से बाँधो।

इस मनरूपी हाथी ने ज्ञानरूपी महावत को गिरा दिया है, सुमतिरूपी साँकल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं, गुरुवचनरूपी अंकुश की उपेक्षा कर रखी है और ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंका है।

---

१. पाठान्तर : नहिं।

तथा यह मनरूपी हाथी सिद्धान्त (शास्त्र) रूपी सरोवर में स्नान करके भी पापरूपी धूल से खेल रहा है, अपने इन्द्रियरूपी कानों को चपलता-पूर्वक बारम्बार हिला रहा है और कुमतिरूपी हथिनी के साथ रतिक्रीड़ा कर रहा है।

इस प्रकार यह मनरूपी हाथी अत्यधिक मदोन्मत्त होता हुआ स्वच्छंदतापूर्वक घूम रहा है, गुणरूपी राहगीर इसके पास तक नहीं आ रहे हैं; अतः इसे वैराग्यरूपी स्तंभ से बाँधो।

तात्पर्य यह है कि हमें अपने चंचल मन को वैराग्य-भावना के द्वारा स्थिर या एकाग्र करना चाहिए, अन्यथा यह हमारे ज्ञान, शील आदि सर्व गुणों का विनाश कर देगा और हमारे ऊपर गुरुवचनों व जिनवचनों का कोई असर नहीं होने देगा। जबतक हमारा मन चंचल है तब तक कोई सद्गुण हमारे समीप तक नहीं आएगा।

**विशेष :**—यहाँ मन को हाथी की उपमा देते हुए कवि ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांगरूपक का निर्माण किया है। आचार्य गुणभद्र ने भी अपने 'आत्मानुशासन' (श्लोक १७०) में मन को विविध प्रकार से बन्दर की उपमा देते हुए इसीप्रकार का अभिप्राय प्रकट किया है।

## ३९. गुरु-उपकार

(कवित्त मनहर)

**ढई-सी सराय काय पंथी जीव वस्यौ आय,**
**रत्नत्रय निधि जापै मोख जाकौ घर है।**
**मिथ्या निशि कारी जहाँ मोह अन्धकार भारी,**
**कामादिक तस्कर समूहन को थर है॥**
**सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदा कौ,**
**तहाँ गुरु पाहरु पुकारैं दया कर है।**
**गाफिल न हूजै भ्रात ! ऐसी है अँधेरी रात,**
**जाग रे बटोही ! इहाँ चोरन कौ डर है॥६८॥**

हे भाई ! यह शरीर ढह जाने वाली धर्मशाला के समान है। इसमें एक जीवरूपी राहगीर आकर ठहरा हुआ है। उसके पास रत्नत्रयरूपी पूँजी है और मोक्ष उसका घर है। यात्रा के इस पड़ाव पर मिथ्यात्वरूपी काली रात है, मोहरूपी घोर अन्धकार है और काम-क्रोध आदि लुटेरों के झुण्डों का निवास है।

यहाँ जो अचेत होकर सोता है वह अपनी संपत्ति खो बैठता है। अतः हे भाई ! गाफिल मत होओ, रात बड़ी अँधेरी है। गुरुरूपी पहरेदार भी दया करके आवाज लगा रहे हैं कि हे राहगीर ! जागते रहो, यहाँ चोरों का डर है।

## ४०. कषाय जीतने का उपाय

(मत्तगयंद सवैया)

**छेमनिवास छिमा धुवनी विन, क्रोध पिशाच उरै न टरैगौ।**
**कोमलभाव उपाव विना, यह मान महामद कौन हरैगौ॥**
**आर्जव सार कुठार विना, छलबेल निकंदन कौन करैगौ।**
**तोषशिरोमनि मन्त्र पढ़े विन, लोभ फणी विष क्यौं उतरैगौ॥६९॥**

क्रोधरूपी पिशाच, जिसमें कुशलता निवास करती है ऐसी क्षमा की धूनी दिये बिना दूर नहीं हटेगा, मानरूपी प्रबल मदिरा कोमलभाव के बिना नहीं उतरेगी, छलरूपी बेल आर्जवरूपी तीक्ष्ण कुल्हाड़ी के बिना नहीं कटेगी, और लोभरूपी विषैले सर्प का जहर सन्तोषरूपी महामन्त्र के जाप बिना नहीं उतरेगा।

तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों का अभाव करने का एक मात्र उपाय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव और उत्तम शौचरूप आत्मधर्म ही है।

## ४१. मिष्ट वचन

(मत्तगयन्द सवैया)

**काहे को बोलत बोल बुरे नर ! नाहक क्यौं जस-धर्म गमावै।**
**कोमल वैन चवै किन ऐन, लगै कछु है न सबै मन भावै॥**
**तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै।**
**जीभ कहैं जिय हानि नहीं तुझ, जी सब जीवन कौ सुख पावै॥७०॥**

हे भाई ! कठोर वचन क्यों बोलते हो? कठोर वचन बोलकर व्यर्थ ही क्यों अपना यश और धर्म नष्ट करते हो? अच्छे व कोमल वचन क्यों नहीं बोलते हो?

देखो ! कोमल वचन सबके मन को अच्छे लगते हैं; जबकि उन्हें बोलने में कोई धन नहीं लगता, बोलने पर तालू भी नहीं छिदता, जीभ भी नहीं भिदती, रुपया-पैसा कुछ घट नहीं जाता और दरिद्रता भी नहीं आ जाती।

इसप्रकार अपनी जीभ से मधुर और कोमल वचन बोलने में तुम्हें हानि कुछ भी नहीं होती, अपितु सुनने वाले सब जीवों के मन को बड़ा सुख प्राप्त होता है; अतः कोमल वचन ही बोलो, कटु वचन मत बोलो।

## ४२. धैर्य-धारण का उपदेश

(कवित्त मनहर)

आयौ है अचानक भयानक असाता कर्म,
ताके दूर करिवे को बलि कौन अह रे।
जे जे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप,
तेई अब आये निज उदैकाल लह रे॥
एरे मेरे वीर ! काहे होत है अधीर यामैं,
कोउ कौ न सीर तू अकेलौ आप सह रे।
भयै दिलगीर कछू पीर न विनसि जाय,
ताही तैं सयाने ! तू तमासगीर रह रे॥७१॥

हे भाई ! यदि तुम्हारे ऊपर भयानक असाता कर्म का अचानक उदय आ गया है तो तुम इससे अधीर क्यों होते हो, क्योंकि अब इसे टालने में कोई समर्थ नहीं है। तुमने स्वयं ने अपनी इच्छानुसार प्रवर्तन करके जो-जो पाप पहले कमाये थे, वे ही अब अपना उदयकाल आने पर तुम्हारे पास आये हैं। तुम्हारे कर्मों के इस फल को अब दूसरा कोई नहीं बाँट सकता, तुम्हें स्वयं अकेले ही भोगना होगा। अतः अब चिंतित या उदास (दुःखी) होने से कोई लाभ नहीं है। चिन्ता करने से या उदास रहने से दुःख मिट नहीं जावेगा।

अतः हे मेरे सयाने भाई! तुम ज्ञाता-द्रष्टा बने रहो — तमाशा देखने वाले बने रहो।

## ४३. होनहार दुर्निवार

(कवित्त मनहर)

कैसे कैसे बली भूप भू पर विख्यात भये,
वैरीकुल काँपैं नेकु भहौं के विकार सौं।
लंघे गिरि-सायर दिवायर-से दिपैं जिनौं,
कायर किये हैं भट कोटिन हुंकार सौं॥
ऐसे महामानी मौत आये हू न हार मानी,
क्यों ही उतरे न कभी मान के पहार सौं।
देव सौं न हारे पुनि दानो सौं न हारे और,
काहू सौं न हारे एक हारे होनहार सौं॥७२॥

देखो तो सही ! इस पृथ्वी पर ऐसे-ऐसे बलशाली व प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हो गये हैं — जिनकी भौंहों के तनिक-सी टेढ़ी करने पर शत्रुओं के समूह काँप उठते थे, जो पहाड़ों और समुद्रों को लाँघ सकते थे, जो सूर्य के समान तेजस्वी थे, जिन्होंने अपनी हुंकार मात्र से करोड़ों योद्धाओं को कायर बना दिया था और अभिमानी ऐसे कि कभी मान के पहाड़ से नीचे उतरे ही नहीं, जिन्होंने कभी मौत से भी अपनी हार नहीं मानी थी, जो कभी किसी से नहीं हारे थे, न किसी देव से और न किसी दानव से, परन्तु अहो ! वे भी एक होनहार से हार गये।

**विशेष :—**यहाँ कवि ने होनहार को अत्यन्त बलवान बताते हुए कहा है कि होनहार का उल्लंघन कोई भी कैसे भी नहीं कर सकता। सो अनेक पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है। उदाहरणार्थ आचार्य समन्तभद्र के 'स्वयंभू-स्तोत्र' का ३३वाँ श्लोक द्रष्टव्य है — अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं. . . ।

## ४४. काल-सामर्थ्य

(कवित्त मनहर)

**लोहमई कोट केई कोटन की ओट करौ,**
**काँगुरेन तोप रोपि राखो पट भेरिकैं।**
**इन्द्र चन्द्र चौंकायत चौकस ह्वै चौकी देहु,**
**चतुरंग चमू चहूँ ओर रहो घेरिकैं॥**
**तहाँ एक भौंहिरा बनाय बीच बैठौ पुनि,**
**बोलौ मति कोऊ जो बुलावै नाम टेरिकैं।**
**ऐसैं परपंच-पाँति रचौ क्यों न भाँति-भाँति,**
**कैसैं हू न छोरै जम देख्यौ हम हेरिकैं॥७३॥**

एक लौहमय किला बनवाइये, उसे अनेक परकोटों से घिरवा दीजिये, परकोटों के कंगूरों पर तोपें रखवा दीजिये, इन्द्र-चन्द्रादि जैसे सावधान पहरेदारों को चौकन्ने होकर पहरे पर बिठा दीजिये, किवाड़ भी बन्द कर लीजिये, चारों ओर चतुरंगिणी सेना का घेरा डलवा दीजिये तथा आप उस लौहमय किले के तलघर में जाकर बैठ जाइये, कोई चाहे कितनी ही आवाजें लगावे, आप बोलिये तक नहीं।

इसी प्रकार के और भी कितने ही इन्तजामों (तामझाम) का ढेर लगा दीजिए, पर यह हमने खूब खोजकर देख लिया है कि मृत्यु कभी नहीं छोड़ती।

(मत्तगयन्द सवैया)

**अन्तक सौं न छूटै निहचै पर, मूरख जीव निरन्तर धूजै।**
**चाहत है चित मैं नित ही सुख, होय न लाभ मनोरथ पूजै॥**
**तौ पन मूढ़ बँध्यौ भय आस, वृथा बहु दुःखदवानल भूजै।**
**छोड़ विचच्छन ये जड़ लच्छन, धीरज धारि सुखी किन हूजै॥७४॥**

यह निश्चित है कि मृत्यु से बचा नहीं जा सकता है, तथापि अज्ञानी प्राणी निरन्तर भयभीत बना रहता है। वह सदा सुखसामग्री की इच्छा करता रहता है, किन्तु न तो उनकी प्राप्ति होती है और न कभी उसके मनोरथ पूरे होते हैं। परन्तु फिर भी वह भय और आशा से बँधा रहता है और व्यर्थ ही दुःखरूपी प्रबल आग में जलता रहता है।

हे विचक्षण ! तुम इन मूर्खता के लक्षणों को त्याग कर एवं धैर्य धारण कर सुखी क्यों नहीं हो जाते हो?

**विशेष :**—इसी प्रकार का भाव आचार्य समन्तभद्र ने भी स्वयंभू स्तोत्र, छन्द ३४ में प्रकट किया है।

## ४५. धैर्य-शिक्षा

(मत्तगयन्द सवैया)

**जो धनलाभ लिलार लिख्यौ, लघु दीरघ सुक्रत के अनुसारै।**
**सो लहिहै कछू फेर नहीं, मरुदेश के ढेर सुमेर सिधारै॥**
**घाट न बाढ़ कहीं वह होय, कहा कर आवत सोच-विचारै।**
**कूप किधौं भर सागर मैं नर, गागर मान मिलै जल सारै॥७५॥**

थोड़े या बहुत पुण्य के अनुसार जितना धनलाभ भाग्य में लिखा होता है, व्यक्ति को उतना ही मिलता है — इसमें कोई सन्देह नहीं, फिर चाहे वह मारवाड़ के टीलों पर रहे और चाहे सुमेरु पर्वत पर चला जाए। वह कितना ही सोच-विचार क्यों न कर ले, परन्तु उससे वह किंचित् भी कम या अधिक नहीं हो सकता।

अरे भाई ! कुए में भरो या सागर में, जल तो सर्वत्र उतना ही मिलता है, जितनी बड़ी गागर (बर्तन) होती है।

## ४६. आशारूपी नदी

(कवित्त मनहर)

मोह से महान ऊँचे पर्वत सौं ढर आई,
तिहूँ जग भूतल मैं याहि विसतरी है।
विविध मनोरथमै भूरि जल भरी बहै,
तिसना तरंगनि सौं आकुलता धरी है॥
परैं भ्रम-भौंर जहाँ राग-सो मगर तहाँ,
चिंता तट तुङ्ग धर्मवृच्छ ढाय ढरी है।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताकौ,
धन्य साधु धीरज-जहाज चढ़ि तरी है॥७६॥

आशारूपी नदी बड़ी अगाध - गहरी है।

यह मोहरूपी महान् पर्वत से ढलकर आई है, तीनों लोकरूपी पृथ्वी पर बह रही है, इसमें विविध मनोरथमयी जल भरा हुआ है, तृष्णारूपी तरंगों के कारण इसमें आकुलता उत्पन्न हो रही है, भ्रमरूपी भँवरें पड़ रही हैं, रागरूपी बड़ा मगरमच्छ इसमें रहता है, चिन्तारूपी इसके विशाल तट हैं, और यह धर्मरूपी विशाल वृक्ष को गिरा कर बह रही है।

अहो ! वे साधु धन्य हैं, जिन्होंने धैर्यरूपी जहाज पर चढ़कर इस आशा नदी को पार कर लिया है।

## ४७. महामूढ़-वर्णन

(कवित्त मनहर)

जीवन कितेक तामैं कहा बीत बाकी रह्यौ,
तापै अंध कौन-कौन करै हेर फेर ही।
आपको चतुर जानै औरन को मूढ़ मानै,
साँझ होन आई है विचारत सवेर ही॥
चाम ही के चखन तैं चितवै सकल चाल,
उर सौं न चौंधे, कर राख्यौ है अँधेर ही।
बाहै बान तानकैं अचानक ही ऐसौ जम,
दीसहै मसान थान हाड़न कौ ढेर ही॥७७॥

यह जीवन वैसे ही कितना थोड़ा-सा है, और उसमें भी बहुत सारा तो बीत ही चुका है, अब शेष बचा ही कितना है; परन्तु यह अज्ञानी प्राणी न जाने क्या-क्या उलटे-सीधे करता रहता है, अपने को होशियार समझता है, और सबको मूर्ख समझता है। देखो तो सही ! सन्ध्या होने जा रही है, पर यह अभी सवेरा ही समझ रहा है।

अभी भी सारे जगत् और उसके क्रियाकलापों को अपनी चर्म-चक्षुओं से ही देख रहा है, हृदय की आँखों से नहीं देखता; हृदय की आँखों में तो इसने अभी भी अँधेरा कर रखा है। लेकिन अब अचानक (कभी भी) यमराज एक बाण ऐसा खींचकर चलाने वाला है कि बस फिर श्मशान में हड्डियों का ढेर ही दिखाई देगा।

(कवित्त मनहर)

**केती बार स्वान सिंघ सावर सियाल साँप,**
**सिँधुर सारङ्ग सूसा सूरी उदरै पर्‌यो।**
**केती बार चील चमगादर चकोर चिरा,**
**चक्रवाक चातक चँडूल तन भी धर्‌यौ॥**
**केती बार कच्छ मच्छ मेंडक गिंडोला मीन,**
**शंख सीप कौंड़ी ह्वै जलूका जल मैं तिर्‌यौ।**
**कोऊ कहै 'जाय रे जनावर !' तो बुरो मानै,**
**यौं न मूढ़ जानै मैं अनेक बार ह्वै मर्‌यौ॥७८॥**

यद्यपि यह अज्ञानी कितनी ही बार कुत्ता, सिंह, साँभर (एक प्रकार का हिरण), सियार, सर्प, हाथी, हिरण, खरगोश, सुअर आदि अनेक थलचर प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ है; कितनी ही बार चील, चमगादड़, चकोर, चिड़िया, चकवा, चातक, चंडूल (खाकी रंग की एक छोटी चिड़िया) आदि अनेक नभचर प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ है; और कितनी ही बार कछुआ, मगरमच्छ, मेंढक, गिंदोड़ा, मछली, शंख, सीप, कौंडी, जोंक आदि अनेक जलचर प्राणियों के रूप में भी उत्पन्न हुआ है; तथापि यदि कोई इसे 'जानवर' कह दे तो बुरा मानता है — खेदखिन्न होता है; यह विचारकर समता धारण नहीं करता कि जानवर तो मैं अनेक बार हुआ हूँ, हो-होकर मरा हूँ।

## ४८. दुष्ट कथन

(छप्पय)

करि गुण-अमृत पान दोष-विष विषम समप्पै।
बंकचाल नहिं तजै जुगल जिह्वा मुख थप्पै॥
तकै निरन्तर छिद्र उदै-परदीप न रुच्चै।
बिन कारण दुख करै वैर-विष कबहुँ न मुच्चै॥
वर मौनमन्त्र सौं होय वश, सङ्गत कीयै हान है।
बहु मिलत बान यातैं सही, दुर्जन साँप-समान है॥७९॥

दुर्जन वास्तव में सर्प के समान है, क्योंकि उसमें सर्प की बहुत आदतें (विशेषताएँ) मिलती हैं। यथा :—

जिसप्रकार सर्प दूध पीकर भी जहर ही उगलता है, उसीप्रकार दुर्जन व्यक्ति भी गुणरूपी अमृत पीकर भी दोषरूपी भीषण जहर ही उगलता है।

जिसप्रकार सर्प कभी अपनी टेढ़ी चाल को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति भी कभी मायाचार रूपी वक्रता का त्याग नहीं करता। जिसप्रकार सर्प के मुँह में दो जीभ होती हैं, उसीप्रकार दुर्जन भी दोगला होता है, वह कभी किसी को कुछ कहता है, और कभी किसी से कुछ और ही कहता है।

जिसप्रकार सर्प सदा बिल की खोज में रहता है, उसीप्रकार दुर्जन भी सदा बुराइयों की ही खोज में रहता है। जिसप्रकार सर्प को जलता हुआ दीपक पसन्द नहीं होता, उसीप्रकार दुर्जन को दूसरे की उन्नति पसन्द नहीं होती। जिसप्रकार सर्प दूसरों को अकारण ही दुःखी करता है, उसीप्रकार दुर्जन भी दूसरों को अकारण ही परेशान करता है। जिसप्रकार सर्प जहर को कभी नहीं छोड़ता, उसीप्रकार दुर्जन भी बैररूपी जहर को कभी नहीं छोड़ता।

जिसप्रकार सर्प मंत्र से वशीभूत हो जाता है, उसीप्रकार दुर्जन भी मौनरूपी श्रेष्ठ मन्त्र से वशीभूत हो जाता है। जिसप्रकार सर्प की संगति से व्यक्ति की हानि होती है, उसीप्रकार दुर्जन की संगति से भी व्यक्ति की हानि होती है।

## ४९. विधाता से तर्क

(कवित्त मनहर)

**सज्जन जो रचे तौ सुधारस सौ कौन काज,**
**दुष्ट जीव किये कालकूट सौं कहा रही।**
**दाता निरमापे फिर थापे क्यौं कलपवृक्ष,**
**जाचक विचारे लघु तृण हू तैं हैं सही॥**
**इष्ट के संयोग तैं न सीरौ घनसार कछू,**
**जगत कौ ख्याल इन्द्रजाल सम है वही।**
**ऐसी दोय दोय बात दीखैं विधि एक ही सी,**
**काहे को बनाई मेरे धोखौ मन है यही ॥८०॥**

हे विधाता ! इस जगत् में एक जैसी ही दो-दो वस्तुएँ दिखाई देती हैं, अत: मेरे मन में एक शंका है कि तुमने ऐसा क्यों किया? एक जैसी ही दो-दो वस्तुएँ क्यों बनाईं?

जब तुमने सज्जन बना दिये तो फिर अमृत बनाने की क्या आवश्यकता थी? और जब तुमने दुर्जन बना दिये थे तो फिर हलाहल जहर बनाने की क्या आवश्यकता रह गई थी? तथा जब तुमने दाता बना दिये थे तो कल्पवृक्ष बनाने की क्या आवश्यकता थी? और जब याचक बना दिये तो तिनके बनाने की क्या आवश्यकता थी? याचक तो वस्तुत: तिनके से भी छोटे हैं।

इसीप्रकार जब तुमने इष्टसंयोग बना दिया था तो चंदन बनाने की क्या आवश्यकता थी? चन्दन कोई इष्टसंयोग से तो अधिक शीतल है नहीं। और जब तुमने जगत् का विचित्र स्वरूप बना दिया तो इन्द्रजाल बनाने की क्या आवश्यकता थी? जगत् का विचित्र स्वरूप तो वैसे ही इन्द्रजाल के समान है।

तात्पर्य यह है कि सज्जन अमृत से भी उत्तम होते हैं, दुर्जन कालकूट विष में भी बुरे होते हैं, दाता कल्पवृक्ष से भी बड़े होते हैं, याचक तिनके से भी छोटे होते हैं, इष्टसंयोग चंदन से भी अधिक शीतल होता है और इस जगत का स्वरूप इन्द्रजाल से भी अधिक विचित्र है।

**विशेष** :—यद्यपि 'घनसार' शब्द का अर्थ चन्दन और कपूर दोनों ही होता है, पर यहाँ चन्दन ही लेना उचित है, क्योंकि यहाँ विधाता से तर्क किया जा रहा है। कपूर कृत्रिम है।

## ५०. चौबीस तीर्थङ्करों के चिह्न

(छप्पय)

गऊपुत्र गजराज बाजि बानर मन मोहै।
कोक कमल साँथिया सोम सफरीपति सौहै।
सुरतरु गैंडा महिष कोल पुनि सेही जानौं।
वज्र हिरन अज मीन कलश कच्छप उर आनौं॥
शतपत्र शंख अहिराज हरि, रिषभदेव जिन आदि ले।
श्री वर्द्धमान लौं जानिये, चिहन चारु चौबीस ये॥८१॥

श्री ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों के चौबीस सुन्दर चिह्न क्रमशः इसप्रकार हैं :— १. बैल, २. हाथी, ३. घोड़ा, ४. बन्दर, ५. चकवा, ६. कमल, ७. साँथिया, ८. चन्द्र, ९. मगर, १०. कल्पवृक्ष, ११. गैंडा, १२. भैंसा, १३. शूकर, १४. सेही, १५. वज्र, १६. हिरन, १७. बकरा, १८. मछली, १९. कलश, २०. कछुआ, २१. नीलकमल, २२. शंख, २३. सर्प, २४. सिंह।

## ५१. श्री ऋषभदेव के पूर्वभव

(कवित्त मनहर)

आदि जयवर्मा, दूजे महाबल भूप, तीजे,
सुरग ईशान ललितांग देव थयौ है।
चौथे वज्रजंघ, एह पाँचवें जुगल देह,
सम्यक् ले दूजे देवलोक फिर गयौ है॥
सातवें सुबुद्धिराय, आठवैं अच्युत-इन्द्र,
नवमैं नरेंद्र वज्रनाभ नाम भयौ है।
दशैं अहमिन्द्र जान, ग्यारवैं रिषभ-भान,
नाभिनंद[1] भूधर के सीस जन्म लयौ है॥८२॥

पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के ११ भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. जयवर्मा, २. महाबल नामक राजा, ३. ईशान स्वर्ग में ललितांग देव, ४. वज्रजंघ राजा, ५. भोगभूमि में युगलिया, ६. दूसरे स्वर्ग में देव, ७. सुबुद्धि नामक राजा, ८. अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, ९. वज्रनाभि चक्रवर्ती, १०. अहमिन्द्र, ११. ऋषभदेव।

---

१. पाठान्तर : नाभिवंश।

## ५२. श्री चन्द्रप्रभ के पूर्वभव

(गीता)

**श्रीवर्म भूपति पालि पुहमी, स्वर्ग पहले सुर भयौ।**
**पुनि अजितसेन छखंडनायक, इन्द्र अच्युत मैं थयौ॥**
**वर पद्मनाभि नरेश निर्जर, वैजयन्ति विमान मैं।**
**चंद्राभ स्वामी सातवैं भव, भये पुरुष पुरान मैं॥८३॥**

आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ के ७ भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. श्रीवर्मा नामक राजा, २. पहले स्वर्ग में देव, ३. अजितसेन चक्रवर्ती, ४. सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र, ५. पद्मनाभि राजा, ६. वैजयन्त नामक दूसरे अनुत्तर विमान में देव, ७. चन्द्रप्रभ स्वामी।

## ५३. श्री शांतिनाथ के पूर्वभव

(सवैया)

**सिरीसेन, आरज, पुनि स्वर्गी, अमिततेज खेचर पद पाय।**
**सुर रविचूल स्वर्ग आनत मैं, अपराजित बलभद्र कहाय॥**
**अच्युतेन्द्र, वज्रायुध चक्री, फिर अहमिन्द्र, मेघरथ राय।**
**सरवारथसिद्धेश, शांति जिन, ये प्रभु की द्वादश परजाय॥८४॥**

सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ के १२ भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. राजा श्रीषेण, २. भोगभूमि में आर्य, ३. स्वर्ग में देव, ४. अमिततेज नामक विद्याधर, ५. तेरहवें स्वर्ग में रविचूल नामक देव, ६. अपराजित नामक बलभद्र, ७. सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र, ८. वज्रायुध चक्रवर्ती, ९. अहमिन्द्र, १०. राजा मेघरथ, ११. स्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र, १२. शान्तिनाथ स्वामी।

## ५४. श्री नेमिनाथ के पूर्वभव

(छप्पय)

**पहले भव वन भील, दुतिय अभिकेतु सेठ घर।**
**तीजे सुर सौधर्म, चौथ चिन्तागति नभचर॥**
**पंचम चौथे स्वर्ग, छठैं अपराजित राजा।**
**अच्युतेंद्र सातवैं अमरकुलतिलक विराजा॥**
**सुप्रतिष्ठ राय आठम, नवैं, जन्म जयन्त विमान धर।**
**फिर भये नेमि हरिवंश-शशि, ये दश भव सुधि करहु नर॥८५॥**

बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के १० भव क्रमशः इसप्रकार हैं:—

१. वन में भील, २. अभिकेतु नामक सेठ, ३. सौधर्म स्वर्ग में देव, ४. चिंतागति विद्याधर, ५. चौथे स्वर्ग में देव, ६. अपराजित राजा, ७. अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, ८. सुप्रतिष्ठ राजा, ९. जयन्त विमान में देव, १०. नेमिनाथ।

## ५५. श्री पार्श्वनाथ के पूर्वभव

(सवैया)

**विप्रपूत मरुभूत विचच्छन, वज्रघोष गज गहन मँझार।**
**सुरि, पुनि सहसरश्मि विद्याधर, अच्युत स्वर्ग अमरि-भरतार॥**
**मनुज-इन्द्र, मध्यम ग्रैवेयिक, राजपुत्र आनन्दकुमार।**
**आनतेंद्र, दशवैं भव जिनवर, भये पार्श्वप्रभु[1] के अवतार॥८६॥**

तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के १० भव क्रमशः इसप्रकार हैं:—

१. मरुभूति नामक विद्वान् ब्राह्मण, २. वन में वज्रघोष नामक हाथी, ३. देव, ४. सहस्ररश्मि विद्याधर, ५. सोलहवें स्वर्ग में देव, ६. चक्रवर्ती, ७. मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र, ८ आनन्द राजा, ९. आनत स्वर्ग में इन्द्र, १० पार्श्वनाथ।

## ५६. राजा यशोधर के भवान्तर

(सवैया)

**राय यशोधर चन्द्रमती पहले भव मंडल मोर कहाये।**
**जाहक सर्प, नदीमध मच्छ, अजा-अज, भैंस, अजा फिर जाये।**
**फेरि भये कुकड़ा-कुकड़ी, इन सात भवांतर मैं दुख पाये।**
**चूनमई चरणायुध मारि, कथा सुन संत हिये नरमाये॥८७॥**

राजा यशोधर और रानी चन्द्रमती ने आटे के मुर्गे की बलि देने के कारण क्रमशः इन सात भवों में अपार कष्ट सहन किये : — १. मोर-मोरनी, २. सर्प-सर्पिणी, ३. मच्छ-मच्छी, ४. बकरा-बकरी, ५-भैंसा-भैंस, ६. बकरा-बकरी और ७. मुर्गा-मुर्गी। ज्ञानी पुरुष उनकी कहानी सुनकर अपने हृदय में बहुत वैराग्य उत्पन्न करते हैं।

---

१. पाठान्तर : पासप्रभु

## ५७. सुबुद्धि सखी के प्रतिवचन

(मनहर कवित्त)

**कहै एक सखी स्यानी सुन री सुबुद्धि रानी!**
**तेरौ पति दुखी देख लागै उर आर है।**
**महा अपराधी एक पुग्गल है छहौं माहिं,**
**सोई दुख देत दीसै नाना परकार है॥**
**कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुग्गल कौं,**
**अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है।**
**खोटौ दाम आपनो सराफै कहा लगै वीर,**
**काहू कौ न दोष मेरौ भौंदू भरतार है॥८८॥**

एक चतुर सखी बोली :— हे सुबुद्धि रानी ! तुम्हारा पति बहुत दु:खी हो रहा है, लगता हैं उसके हृदय में कोई बड़ा शूल चुभा हो। हे सखी, सुनो ! इस लोक में जो ६ द्रव्य हैं, उनमें एक पुद्गल नाम का द्रव्य बड़ा अपराधी है। लगता है, वही तुम्हारे पति को नाना प्रकार से कष्ट दे रहा है।

प्रत्युत्तर में सुबुद्धि रानी कहती है :— हे सखी ! इसमें पुद्गल का क्या दोष है? मेरा स्वामी स्वयं ही अपनी भूल से दु:खी हो रहा है। हे सखी ! जब अपना ही सिक्का खोटा हो तो सर्राफ को क्या दोष दें? अत: वास्तव में पुद्गल आदि अन्य किसी का भी कोई दोष नहीं है, मेरा भरतार स्वयं ही भोंदू है।

**विशेष :**—यहाँ कवि ने दो सखियों के रोचक संवाद के माध्यम से एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कहने का प्रयत्न किया है। अनादिकाल से यह जीव अपने दु:ख का कारण पर-पदार्थ को मानता है, समझता है कि स्त्री-पुत्रादि या पुदगल-कर्मादि रूप परपदार्थ ही मुझे इस संसार में भ्रमण करा रहे हैं, नाना प्रकार से दु:ख दे रहे हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह जीव स्वयं ही अपने मोह-राग-द्वेषादि अज्ञानभावों से दु:खी हो रहा है। उसमें किसी भी पर-पदार्थ का किञ्चित् भी दोष नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता है। अत: अपना दु:ख दूर करने के लिए सर्वप्रथम परद्रव्य का दोष देखना बन्द करना चाहिए।

यहाँ दो सखियों के संवाद से और उसमें भी उपयुक्त मुहावरे के प्रयोग से काव्य-सौन्दर्य में बड़ी वृद्धि हुई है।

## ५८. गुजराती भाषा में शिक्षा

(करिखा)

**ज्ञानमय रूप रूड़ो सदा सासतौ, ओलखै क्यौं न सुखपिंड भोला।**
**बेगली देहथी नेह तूं शूं करै, एहनी टेव जो मेह ओला॥**
**मेरने मान भवदुक्ख पाम्या पछी, चैन लाध्यो नथी एक तोला।**
**वळी दुख वृच्छनो बीज बावै अने, आपथी आपनै आप भोला॥८९॥***

हे भोले भाई ! तुम सुख के पिण्ड हो। तुम्हारा रूप ज्ञानमय है, सुन्दर है, शाश्वत (सतत) है। तुम उसे पहिचानते क्यों नहीं हो? तथा शरीर तुमसे भिन्न है, पराया है, तुम उससे राग क्यों करते हो? उसका स्वरूप तो बरसात के ओले की भाँति क्षणभंगुर है।

हे भाई! इस राग के कारण तुमने मेरु पर्वत के समान अपार दु:ख झेले हैं, कभी एक तोला भी सुख प्राप्त नहीं किया, फिर भी तुम पुन: वही दु:खरूपी वृक्ष का बीज बो रहे हो और स्वयं ही अपने आपको भूल रहे हो।

## ५९. द्रव्यलिंगी मुनि

(मत्तगयन्द सवैया)

**शीत सहैं तन धूप दहैं, तरुहेट रहैं करुना उर आनैं।**
**झूठ कहैं न अदत्त गहैं, वनिता न चहैं लव लोभ न जानैं॥**
**मौन वहैं पढ़ि भेद लहैं, नहिं नेम जहैं व्रतरीति पिछानैं।**
**यौं निबहैं पर मोख नहीं, विन ज्ञान यहै जिन वीर बखानैं॥९०॥**

द्रव्यलिंगी मुनि यद्यपि शीत ऋतु में नदी-तट पर रहकर सर्दी सहन करता है, गर्मी में पर्वत पर जाकर शरीर जलाता है, और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे रहकर बरसात भी सहन करता है; अपने हृदय में करुणाभाव धारण करता है, झूठ नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, कुशील-सेवन की अभिलाषा नहीं करता है, और किंचित् लोभ भी नहीं रखता है; मौन धारण करता है, शास्त्र पढ़कर उनके अर्थ भी जान लेता है, कभी प्रतिज्ञा भंग नहीं करता, व्रत करने की विधि को समझता है; तथापि भगवान महावीर कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

---

* कुछ प्रतियों में यह पद नहीं मिलता।

## ६०. अनुभव-प्रशंसा

(कवित्त मनहर)

**जीवन अलप आयु बुद्धि बल हीन तामैं,**
**आगम अगाध सिंधु कैसैं ताहि डाक है।**
**द्वादशांग मूल एक अनुभौ अपूर्व कला,**
**भवदाघहारी घनसार की सलाक है॥**
**यह एक सीख लीजै याही कौ अभ्यास कीजै,**
**याकौ रस पीजै ऐसो वीरजिन-वाक है।**
**इतनो ही सार येही आतम कौ हितकार,**
**यहीं लौं मदार और आगै ढूकढाक है॥९१॥**

हे भाई ! यह मनुष्यजीवन वैसे ही बहुत थोड़ी आयुवाला है, ऊपर से उसमें बुद्धि और बल भी बहुत कम है, जबकि आगम तो अगाध समुद्र के समान है, अत: इस जीवन में उसका पार कैसे पाया जा सकता है?

अत: हे भाई! वस्तुत: सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का मूल तो एक आत्मा का अनुभव है, जो बड़ी अपूर्व कला है और संसाररूपी ताप को शान्त करने के लिए चन्दन की शलाका है। अत: इस जीवन में एकमात्र आत्मानुभवरूप अपूर्व कला को ही सीख लो, उसका ही अभ्यास करो और उसका ही भरपूर आनन्द प्राप्त करो। यही भगवान महावीर की वाणी है।

हे भाई! एक आत्मानुभव ही सारभूत है — प्रयोजनभूत है, करने लायक कार्य है, और इस आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य सब तो बस कोरी बातें हैं।

**विशेष** :—यह कवि का अतीव महत्त्वपूर्ण पद है। इसमें कवि ने आत्मानुभव को द्वादशांग रूप समस्त जिनवाणी का मूल बताते हुए निरंतर उसी के अभ्यासादि की जो मंगलकारी प्रेरणा दी है, उस पर पुन: पुन: गहराई से विचार करना चाहिए। कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र आदि आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में, कैसे भी मर कर भी आत्मानुभव करने की शिक्षा दी है।

तथा इस प्रसंग में मुनि रामसिंह के 'पाहुडदोहा' का ९९वाँ दोहा भी गंभीरतापूर्वक विचारणीय है —

"अंतोणत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणक्खयं कुणदि॥"

अर्थात् शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय थोड़ा है और हम दुर्बुद्धि हैं, अत: केवल वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो।

## ६१. भगवत्-प्रार्थना

(कवित्त मनहर)

**आगम-अभ्यास होहु सेवा सरवज्ञ ! तेरी,**
**संगति सदीव मिलौ साधरमी जन की।**
**सन्तन के गुन कौ बखान यह बान परौ,**
**मेटौ टेव देव ! पर-औगुन-कथन की॥**
**सब ही सौं ऐन सुखदैन मुख वैन भाखौं,**
**भावना त्रिकाल राखौं आतमीक धन की।**
**जौलौं कर्म काट खोलौं मोक्ष के कपाट तौलौं,**
**ये ही बात हूजौ प्रभु! पूजौ आस मन की॥९२॥**

हे सर्वज्ञदेव ! मेरी अभिलाषा यह है कि मैं जबतक कर्मों का नाश करके मोक्ष का दरवाजा नहीं खोल लेता हूँ, तबतक मुझे सदा शास्त्रों का अभ्यास रहे, आपकी सेवा का अवसर प्राप्त रहे, साधर्मीजनों की संगति मिली रहे, सज्जनों के गुणों का बखान करना ही मेरा स्वभाव हो जावे, दूसरों के अवगुण कहने की आदत से मैं दूर रहूँ, सभी से उचित और सुखकारी वचन बोलूँ और हमेशा आत्मिक सुखरूप शाश्वत धन की ही भावना भाऊँ। हे प्रभो ! मेरे मन की यह आशा पूरी होवे।

## ६२. जिनधर्म-प्रशंसा

(दोहा)

**छये अनादि अज्ञान सौं, जगजीवन के नैन।**
**सब मत मूठी धूल की, अंजन है मत जैन॥९३॥**

अनादिकालीन अज्ञान के कारण संसारी प्राणियों की आँखें बन्द पड़ी हैं। उनके लिए अन्य सब मत तो धूल की मुट्ठी के समान हैं, अज्ञानी जीवों के अज्ञान का ही पोषण करते हैं; लेकिन जैनधर्म अंजन के समान है, जो जीवों के अज्ञान का अभाव करने वाला है।

(दोहा)

**भूल-नदी के तिरन कौ, और जतन कछु है न।**
**सब मत घाट कुघाट हैं, राजघाट है जैन॥९४॥**

भ्रमरूपी नदी को तिरने के लिए जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जैनेतर सभी मत उस नदी के खोटे घाट हैं; एक जैनधर्म ही राजघाट है — सच्चा मार्ग है।

(दोहा)

**तीन भवन मैं भर रहे, थावर-जङ्गम जीव।**
**सब मत भक्षक देखिये, रक्षक जैन सदीव॥ ९५॥**

तीनों लोकों में त्रस और स्थावर जीव भरे हुए हैं। वहाँ अन्य सब मत तो उनके भक्षक हैं और जैनधर्म उनका सदा रक्षक है।

(दोहा)

**इस अपार जगजलधि मैं, नहिं नहिं और इलाज।**
**पाहन-वाहन धर्म सब, जिनवरधर्म जिहाज॥ ९६॥**

अहो, इस अपार संसार-सागर से पार होने के लिए जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है, नहीं है। यहाँ अन्य सभी धर्म (मत/सम्प्रदाय) तो पत्थर की नौका के समान हैं, केवल एक जैनधर्म ही पार उतारने वाला जहाज है।

(दोहा)

**मिथ्यामत के मद छके, सब मतवाले लोय।**
**सब मतवाले जानिये, जिनमत मत्त न होय॥ ९७॥**

इस दुनिया में अन्यमतों को मानने वाले सब लोग मिथ्यात्व की मदिरा पीकर मतवाले हो रहे हैं। किन्तु जिनमत को अपनाने वाला कभी मदोन्मत्त नहीं होता — मिथ्यात्व का सेवन नहीं करता।

(दोहा)

**मत-गुमानगिरि पर चढ़े, बड़े भये मन माहिं।**
**लघु देखें सब लोक कौं, क्यों हूँ उतरत नाहिं॥ ९८॥**

अन्यमतों को माननेवाले सब लोग अपने-अपने मत के अभिमानरूपी पहाड़ पर चढ़कर अपने ही मन में बड़े बन रहे हैं, वे अपने आगे सारी दुनिया को छोटा समझते हैं, कभी भी कैसे भी अभिमान के पहाड़ से नीचे नहीं उतरते।

(दोहा)

**चामचखन सौं सब मती, चितवत करत निबेर।**
**ज्ञाननैन सौं जैन ही, जोवत इतनो फेर॥ ९९॥**

जैनमत और अन्यमतों में इतना बड़ा अन्तर है कि अन्यमतों को मानने वाले तो चर्मचक्षुओं से ही देखकर निर्णय करते हैं, किन्तु जैन ज्ञानचक्षुओं से देखता है।

(दोहा)

**ज्यौं बजाज ढिंग राखिकैं, पट परखैं परवीन।**
**त्यौं मत सौं मत की परख, पावैं पुरुष अमीन॥१००॥**

जिसप्रकार बजाज अनेक वस्त्रों को पास-पास रखकर श्रेष्ठ वस्त्र की परीक्षा (पहचान) कर लेता है; उसीप्रकार सत्यनिष्ठ पुरुष विभिन्न मतों की भलीभाँति तुलना करके श्रेष्ठ मत की परीक्षा (पहचान) कर लेता है।

(दोहा)

**दोय पक्ष जिनमत विषैं, नय निश्चय-व्यवहार।**
**तिन विन लहै न हंस यह, शिव सरवर की पार॥१०१॥**

जिनमत में निश्चय-व्यवहार नय रूप दो पक्ष हैं, जिनके बिना यह आत्मा संसार-सागर को पार कर मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता।

(दोहा)

**सीझे सीझैं सीझहीं, तीन लोक तिहुँ काल।**
**जिनमत को उपकार सब, मत[1] भ्रम करहु दयाल॥१०२॥**

हे दयाल ! तीन लोक तीन काल में आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे; वह सब एकमात्र जिनमत का ही उपकार है। इसमें शंका न करो।

(दोहा)

**महिमा जिनवर-वचन की, नहीं वचन-बल होय।**
**भुज-बल सौं सागर अगम, तिरे न तिरहीं कोय॥१०३॥**

अहो! जिनेन्द्र भगवान के वचनों की महिमा वचनों से नहीं हो सकती। अपार समुद्र को भुजाओं के बल से तैरकर न कभी कोई पार कर पाया, न कर पायेगा।

(दोहा)

**अपने-अपने पंथ को, पौखे सकल जहांन।**
**तैसैं यह मत-पोखना, मत समझो मतिवान॥१०४॥**

हे बुद्धिमान भाई ! हमारी उक्त वातों को, जिनमें अन्यमतों से जिनमत की श्रेष्ठता बताई गई है, वैसा ही मतपोषण करना मत समझना, जैसा कि दुनिया के सब लोग अपने-अपने मतों का पोषण करते हैं।

---

१. किसी-किसी प्रति में 'मत' के स्थान पर 'जनि' लिखा मिलता है और वह भी ठीक हो सकता है। ब्रजभाषा में 'जनि' का अर्थ भी निषेध ही है।

(दोहा)

**इस असार संसार मैं, और न सरन[१] उपाय।**
**जन्म-जन्म हूजो हमैं, जिनवर धर्म सहाय॥ १०५॥**

अहो ! इस असार संसार में जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, साधन नहीं है। हमें जन्म-जन्म में जिनधर्म की ही सहायता प्राप्त होवे।

## ६३. अन्तिम प्रशस्ति

(कवित्त मनहर)

**आगरे मैं बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल,**
**बालक के ख्याल-सो कवित्त कर[२] जानै है।**
**ऐसे ही कहत भयो जैसिंह सवाई सूबा,**
**हाकिम गुलाबचन्द रह तिहि थानै है॥**
**हरिसिंह साह के सुवंश धर्मरागी नर,**
**तिनके कहे सौं जोरि कीनी एक ठानै है।**
**फिरि-फिरि प्रेरे मेरे आलस को अंत भयो,**
**उनकी सहाय यह मेरो मन मानै है॥ १०६॥**

मैं, भूधरदास खण्डेलवाल, आगरा में बालकों के खेल जैसी कविता-रचना करता हूँ। ये उक्त छन्द मैंने जयपुर के श्री हरिसिंहजी शाह के वंशज धर्मानुरागी हाकिम श्री गुलाबचन्द्रजी के अनुरोध से एकत्रित किये हैं। उन्हीं की पुनः-पुनः प्रेरणा से मेरे आलस्य का अन्त हुआ है। मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ।

(दोहा)

**सतरह सै इक्यासिया, पोह पाख तमलीन।**
**तिथि तेरस रविवार को, शतक सम्पूर्ण[३] कीन॥ १०७॥**

यह शतक पौष कृष्णा त्रयोदशी रविवार विक्रम संवत् १७८१ को पूरा किया।

* * *

१. पाठान्तर : सरल।
२. पाठान्तर : रच।
३. पाठान्तर : समापत।

परिशिष्ट-१

# महाकवि भूधरदास और उनका 'जैन शतक'

## (विद्वानों के अभिमत)

१. **तत्कालीन विद्वान् महाकवि पं० दौलतराम कासलीवाल लिखते हैं —**

"भूधरमल जिनधर्मी ठीक। रहै स्याहगंज में तहकीक॥
जिन सुमिरन पूजा परवीन। दिन प्रति करै असुभ कौ छीन॥[१]"

अर्थात् पं. भूधरदासजी सच्चे जिनधर्मी थे, शाहगंज में निवास करते थे और प्रतिदिन कुशलतापूर्वक जिनेन्द्रदेव का स्मरण-पूजन करते हुए अपने अशुभ कर्मों को क्षीण करते थे।

२. **तत्कालीन प्रसिद्ध साधर्मी भाई ब्र० रायमल्ल लिखते हैं —**

"ऊहाँ स्याहगंज में भूधरमल्ल साहूकार व्याकरण का पाटी घणां जैन के शास्त्रां का पारगामी तासूं मिले। ···स्याहगंज के चैतालै भूधरमल्ल शास्त्र का व्याख्यान करै और सौ दोय सै साधर्मी भाई ता सहित ·····[२]"

३. **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य लिखते हैं —**

"हिन्दी भाषा के जैन कवियों में महाकवि भूधरदास का नाम उल्लेखनीय है। कवि आगरा-निवासी था और इसकी जाति खण्डेलवाल थी। इससे अधिक इनका परिचय प्राप्त नहीं होता है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि कवि श्रद्धालु और धर्मात्मा था। कविता करने का अच्छा अभ्यास था। ··· इनकी रचनाओं से इनका समय वि. सं. की १८वीं शती (१७८१) सिद्ध होता है। जैन शतक में १०७ कवित्त, दोहे, सवैये और छप्पय हैं। कवि ने वैराग्य-जीवन के विकास के लिए इस रचना का प्रणयन किया है। वृद्धावस्था, संसार की असारता, काल-सामर्थ्य, स्वार्थपरता, दिगम्बर मुनियों की तपस्या, आशा-तृष्णा की नग्नता आदि विषयों का निरूपण बड़े ही अद्भुत ढंग से किया है। कवि जिस तथ्य का प्रतिपादन करना चाहता है उसे स्पष्ट और निर्भय होकर प्रतिपादित करता है। नीरस और गूढ़ विषयों का निरूपण भी सरस एवं प्रभावोत्पादक शैली में किया गया है। कल्पना, भावना और विचारों का समन्वय सन्तुलित रूप में हुआ है।[३]"

---

१. पुण्यास्रवकथाकोश-भाषा, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द १५
२. जीवन-पत्रिका (देखो — पं. टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, परिशिष्ट १, पृष्ठ ३३४)
३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-४, पृष्ठ २७२-२७५

४. जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ लिखते हैं —

"हिन्दी-जैन-कवियों में कविवर भूधरदासजी का स्थान विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यदि हम प्रतिभा की दृष्टि से हिन्दी-जैन-कवियों का क्रमोल्लेख करना चाहें तो महाकवि बनारसीदासजी के बाद दूसरा स्थान भूधरदासजी का होगा।[४]"

५. श्री प्रहलादराय गोयल, एम.ए. लिखते हैं —

"इसप्रकार की (रीतिकालीन) विषम परिस्थिति में समाज को सुमार्ग पर लानेवाली महान् विभूतियों में कविव्रर भूधर की अमृतमयी वाणी सहायक सिद्ध हुई। भूधर ने ज्ञान की ऐसी मन्दाकिनी प्रवाहित की, जो सदा ही समाज के मनुष्यों का पाप प्रक्षालन करती रहेगी। आपका एक ग्रन्थ 'जैन शतक' वास्तव में अद्वितीय है। ....... इनका (भूधरदासजी का) उद्देश्य समाज को सुमार्ग पर लाना था, न केवल कविता करके अन्य कवियों की भाँति कवि समुदाय में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। उन्होंने समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उचित रूप से पालन किया अर्थात् अपनी रचनाओं को आभूषण तथा छन्दोबद्ध रीति से संचरित किया। इसी शृंगार की सरिता की उत्तुंग लहरों में कवि ने ज्ञान का बेड़ा बनकर सब मनुष्यों को 'काम' की धारा में बहने से बचाया। .......

'जैन शतक' एक छोटी-सी पुस्तक है, परन्तु महान भावों रूपी रत्नों की जन्मस्थली है। यहाँ कवि ने गागर में सागर भर दिया है। कवि का आत्मा तथा हृदय स्पष्ट रूप से प्रत्येक छन्द में दृष्टिगोचर होता है। जिससमय रीतिकालीन कवि प्रेम के झूले पर चढ़कर उद्यान की शीतल मन्द सुगन्ध बयार का रसास्वादन कर रहे थे, उससमय कवि ने मनुष्य जन्म की सार्थकता तथा कर्त्तव्य की शिक्षा देकर उपरोक्त विषय-विकारों का बहिष्कार किया। .......

'जैन शतक' न केवल आध्यात्मिक ज्ञानपिपासु जनों की पिपासा को शान्त करने के लिए अमृतोपम गंगाजल ही है, वरन् व्यावहारिक ज्ञान का भी कोष है। ... 'जैन शतक' अकेला ही भूधरदासजी की कीर्तिकौमुदी को विकसित करता रहेगा। यह ग्रन्थ भाव, भाषा तथा कला की दृष्टि से भी अनुपम है। रीतिकाल के लक्षणग्रन्थों के सदृश यह ग्रन्थ विभिन्न प्रकार के छन्दों का अजायबघर नहीं है। यह ग्रन्थ शान्तरस की धारा से सदा ही संतप्तजनों के हृदय को शान्त करता रहेगा।[५]"

४. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, अक्टूबर, १९५०, पृष्ठ ३०६
५. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, १८ मई, १९६३, पृष्ठ ३४७-३४८

**६. श्री जमनालाल जैन, साहित्यरत्न, वर्धा लिखते हैं —**

''महाकवि बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' में सुकवि के लिए जिन गुणों की ओर संकेत किया है वे सब महाकवि भूधरदासजी में विद्यमान थे। सिद्धान्त के प्रतिकूल उनकी लेखनी ने एक शब्द भी नहीं लिखा। 'जैन शतक' उनकी एक छोटी-सी परन्तु प्रौढ़ कलाकृति है। कवि की आत्मा, उसका हृदय, उसमें शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से व्यक्त हो उठा है। किसी भी कवित्त या वर्णन को उठा लीजिए, एक चित्र या दृश्य अपने परिपूर्ण रूप में सम्मुख आ जाता है। जीवन की बाह्याभ्यन्तर दशाओं, मानवोचित कर्त्तव्यों को समझने में प्रस्तुत रचना बहुत काम की चीज है।[६]''

**७. बाबू शिखरचन्द जैन लिखते हैं —**

''सुकवि भूधरदास क्या भाव, क्या भाषा, क्या मुहावरों का प्रयोग एवं भाषा का प्रवाह, क्या विषय-प्रतिपादन की शैली, क्या सूक्तियों एवं कहावतों का प्रयोग सब कवितोचित गुणों में अन्य अनेक जैन कवियों में उचित स्थान पाने के योग्य हैं। 'जैन शतक' में उनकी प्रतिभा का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। ...... कवित्त और सवैये तो बड़े ही सरस, प्रवाहपूर्ण, लोकोक्ति-समाविष्ट एवं जोरदार हुये हैं। कुछ विषय जैसे वृद्धावस्था, काल-सामर्थ्य, संसार-असारता तथा दिगम्बर मुनि-तपस्या-वर्णन आदि तो उनसे बहुत ही अच्छे बन पड़े हैं। जिस विषय को वे उठा लेते हैं, जोरदार भाषा में उसका अन्त तक निर्वाह करते चले जाते हैं। कहीं शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। ...... कवियों में यदि इसे (सुकवि भूधरदास को) लोकोक्ति और रूपक अलंकारों का कवि कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति न होगी, क्योंकि लोकोक्ति और रूपकों का इसने बेखटके (Freely) प्रयोग किया है।[७]''

**८. जैन-साहित्य के महान् अनुसंधाता श्री अगरचन्द नाहटा लिखते हैं —**

''हिन्दी के जैन-सुकवियों में कवि भूधरदासजी का विशिष्ट स्थान है।[८]''

**९. श्री माणिकचन्द जैन, बी.ए.,बी.टी. लिखते हैं —**

''हिन्दी-जैन-कवियों में कवि भूधरदास का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं भैया भगवतीदासजी, पांडे रूपचन्दजी और इनको समकक्ष कवि मानता हूँ। महाकवि बनारसीदासजी के बाद इन्हीं कवियों का गौरवपूर्ण स्थान है। कवि भूधरदासजी आध्यात्मिक पुरुष थे। संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता और भोगों की

---

६. जैन शतक, पृष्ठ ८ व ११ (प्रकाशक - दि० जैन पुस्तकालय, सूरत, वी.नि.सं. २४७३)
७. जैन शतक, पृष्ठ ११ (प्रकाशक - दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी.नि.सं. २४७३)
८. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, १८ अक्टूबर, १९६२, पृष्ठ ३३

नि:सारता के सम्बन्ध में इन्होंने जो कुछ लिखा है वह बड़ा ही प्रभावपूर्ण है। इनके 'जैन शतक' का प्रत्येक छन्द याद कर लेने योग्य है। यह शतक सचमुच ही दु:खी मनुष्य को बड़ा ढ़ाढस देनेवाला है। ······ इसमें कुल मिलाकर १०७ छन्द हैं और ये एक से एक बढ़कर हैं। भूधर की वाणी में तर्कपूर्ण ओज है और ······ कल्पनाएँ सुन्दर मनमोहक और हृदयस्पर्शी हैं।[९]"

**१०. श्री बुद्धिप्रकाश जैन लिखते हैं —**

'जैन शतक' भी कवि भूधरदासजी की एक उत्कृष्ट रचना है जिसमें जीव की विभिन्न परिस्थितियों का गीतात्मक पदों में सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। प्रत्येक पद अपने पीछे एक उपदेश देता हुआ हृदय को स्पर्श करने लगता है। हिन्दी-जैन-साहित्य को भूधर जैसे कवियों पर अत्यन्त गर्व है।[१०]"

**११. श्री गुलाबचन्द छाबड़ा जैनदर्शनाचार्य लिखते हैं —**

"आपके काव्य में रीतिकालीन काव्यों की छाप बिल्कुल नहीं है। आप भक्तिकालीन कवियों की श्रेणी में बैठते हैं। किन्तु भक्तकवियों से भी आपका स्तर ऊँचा दृष्टिगोचर होता है। कारण यह है कि आप भक्त होने के साथ-साथ वैरागी भी हैं। आपको वैराग्य की भावनाएँ न केवल भक्त ही सिद्ध करती हैं, बल्कि आध्यात्मिक पुरुष भी सिद्ध करती हैं। आपकी भावनाओं का सच्चा ज्ञान आपके पदों में मिलता है। आपके अनेकों आध्यात्मिक पद आपको भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों से निराला सिद्ध करते हैं।

कविवर भूधर की रचनाओं को जब हम आद्योपान्त पढ़ते हैं तो उनमें हमें लोकरंजन तथा मनोरंजन नहीं दिखाई पड़ता, अपितु आत्मरंजन दिखाई पड़ता है।[११]"

**१२. पण्डित परमानन्द शास्त्री लिखते हैं —**

"हिन्दी-भाषा के जैन-कवियों में पण्डित भूधरदासजी का नाम भी उल्लेखनीय है। ···· कविवर की आत्मा जैनधर्म के रहस्य से केवल परिचित ही नहीं थी, किन्तु उसका सरस रस उनके आत्मप्रदेशों में भिद चुका था जो उनकी परिणति को बदलने तथा सरल बनाने में एक अद्वितीय कारण था। उन्हें कविता करने का अच्छा अभ्यास था। ······ अध्यात्मरस की चर्चा करते हुए कविवर आत्मरस में विभोर हो उठते थे।[१२]"

---

९. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ अक्टूबर, १९४७, पृष्ठ १७१ एवं १७३
१०. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, १८ अगस्त, १९६०, पृष्ठ ३०२
११. वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ नवम्बर, १९६३, पृष्ठ ४३
१२. अनेकान्त (मासिक), दिल्ली, मार्च १९५४, पृष्ठ ३०५

**१३. जैन पुस्तक भवन, ८०, लोअर चितपुर रोड, कलकत्ता से प्रकाशित 'भूधर विलास' की भूमिका में कोई विद्वान् लिखते हैं —**

"महाकवि भूधरदासजी भारत के अग्रगण्य गायकों में से थे। आपके प्रशान्त हृदयसागर से शान्ति का अमर सन्देश लेकर जो धारा बह निकली, विश्व उसे देखकर मुग्ध हो गया। आप सांसारिक माया-मोह के वातावरण में रहकर भी इससे अछूते रहे। ......

महाकवि ने आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही काव्य की रचना की है। प्रदर्शन के लोभ से आपने एक भी पद नहीं रचा है। ......

कविवर की भाषा तथा शैली अपनी ही वस्तु थी। इस तरह की भाषा-शैली विरले ही पा सकते हैं। आपके शब्द नपे-तुले हुए होते थे। ......

हिन्दी आप जैसे कलाकार को पाकर धन्य हुई और आप जैसे प्रशान्त गायक के अमर गीत इस संघर्षमय संसार में अब भी चिरशांति का आलाप सुना रहे हैं।[१३]"

**१४. इन्दौर (म.प्र.) से डॉ. नेमीचन्द जैन लिखते हैं —**

"महाकवि भूधरदास मध्यकालीन कवि हैं। उन्होंने मानव-जीवन की महत्ता और उपादेयता पर भी गहन प्रकाश डाला है। मूलत: वे शुद्ध अध्यात्मवादी हैं। उन्हें मानव-मन की गहराइयों का विशद ज्ञान है। 'शतक' में ऐसी सैंकड़ों पंक्तियाँ हैं जो जीवन को स्वस्थ और वैराग्यमूलक उजास से भर देती हैं।[१४]"

**१५. डॉ. राजकुमार जैन लिखते हैं —**

"कवि ने इसमें ('जैन शतक' में) अध्यात्म, नीति एवं वैराग्य की जो त्रिवेणी प्रवाहित की है, उसमें अवगाहन करके प्रत्येक सहृदय पाठक आत्मप्रबुद्ध हो सकता है।[१५]"

**१६. बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी लिखते हैं —**

"जैनधर्म का सार यह, भूधर भरो इस माय।
नहीं पढ़ा यह ग्रन्थ जिन, जैनी यूँ ही कहाय॥[१६]"

---

१३. कलकत्ता से प्रकाशित 'भूधरविलास' का प्रथम, द्वितीय व तृतीय पृष्ठ
१४. तीर्थंकर (मासिक), इन्दौर, जुलाई १९९०
१५. अध्यात्म पदावली, पृष्ठ १००
१६. भूधर जैन शतक (प्रकाशक दि० जैनधर्म पुस्तकालय, अनारकली, जैन गली, लाहौर; संस्करण — १९०९ ई.) भूमिका पृष्ठ २

- १७. डॉ. रामस्वरूप लिखते हैं —

"'जैन शतक' की भाषा साफ सुथरी और मधुर साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें कहीं-कहीं पर यार, माफिक, दगा आदि प्रचलित सुबोध विदेशी शब्द भी दिखाई देते हैं। कुछ पदों में समप्पै, थप्पै, रुच्चै, मुच्चै आदि प्राकृताभास शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। कुछ रूढ़ियाँ एवं लोकोक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं।[१७]"

१८. आध्यात्मिक विद्वान् डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल लिखते हैं —

"भूधरदासजी जिन-अध्यात्म परम्परा के प्रतिष्ठित विद्वान् और वैरागी प्रकृति के सशक्त कवि थे। महाकवि भूधरदासजी का सम्पूर्ण पद्य साहित्य भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से पूर्णतः समृद्ध है।[१८]"

१९. डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री अपने शोध-प्रबन्ध में लिखते हैं —

"उनका जैनकवियों और विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान है। ...उन्होंने रीतिकालीन परिवेश से अपने आपको सर्वथा पृथक रखकर धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक काव्य का सृजन किया और रीतिकालीन शृंगारी काव्य की आलोचना की।[१९]"

२०. श्री कमलचन्द जैन लिखते हैं —

"कविवर ने 'जैन शतक' में अनुभवपरक, वैराग्यप्रेरक व विविध आध्यात्मिक कवित्तों की रचना करके मानव-मस्तिष्क को आलोकित किया है।[२०]"

---

१७. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, पृष्ठ ५००

१८. महाकवि भूधरदास : एक समालोचनात्मक अध्ययन, प्रस्तावना, पृष्ठ ५-६

१९. महाकवि भूधरदास : एक समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ४३७

२०. जैन शतक (मुमुक्षु मंडल, अलवर से प्रकाशित, १९८७ ई.), पृष्ठ १

परिशिष्ट — २

# छन्दानुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| अंतक सौं न छुटै··· | ७४ | कुगति-वहन गुनगहन-दहन··· | ५८ |
| अघ अंधेर··· | ४८ | कृमिरास कुवास··· | ५३ |
| अपने-अपने पंथ कौं··· | १०४ | केती वार स्वान··· | ७८ |
| अहो इन आपने··· | ४० | कैसे करि केतकी··· | १६ |
| आगम अभ्यास··· | ९२ | कैसे कैसे बली भूप··· | ७२ |
| आगरे मैं बालबुद्धि··· | १०६ | गऊपुत्र गजराज··· | ८१ |
| आदि जयवर्मा··· | ८२ | चाम-चखन सौं··· | ९९ |
| आयौ है अचानक··· | ७१ | चाहत है धन··· | ३२ |
| इस अपार जगजलधि··· | ९६ | चिंता तजै न चोर··· | ५६ |
| इस असार संसार··· | १०५ | चितवत वदन··· | ५ |
| ए विधि ! भूल भई··· | ६६ | छये अनादि अज्ञान··· | ९३ |
| कंचन कुंभन··· | ६५ | छेमनिवास छिमा··· | ६९ |
| कंचन-भंडार भरे··· | ३४ | जंगम जिय कौ··· | ५२ |
| कब गृहवास सौं··· | १७ | जनम-जलधि जलजान··· | ८ |
| कर कर जिनगुन पाठ··· | २२ | जयौ नाभिभूपाल··· | ४ |
| करनों कछु न करन तैं··· | ३ | जाकौ इन्द्र चाहै··· | ४१ |
| करि गुण-अमृत पान··· | ७९ | जिनकैं जिन के··· | ६३ |
| कहै एक सखी··· | ८८ | जीवन अलप··· | ९१ |
| कहै पशु दीन··· | ४७ | जीवन कितेक··· | ७७ |
| काउसग्ग मुद्रा··· | २ | जूआ खेलन··· | ५० |
| कानन मैं बसै··· | ५५ | जे परनारि निहार··· | ६० |
| कानी कौड़ी काज··· | २३ | जैन वचन··· | ३६ |
| कानी कौड़ी विषयसुख··· | २४ | जोई दिन कटै··· | ३७ |
| काहू घर पुत्र जायो··· | २१ | जो जगवस्तु··· | ४६ |
| काहे को बोलत··· | ७० | जो धनलाभ··· | ७५ |

जोलौं देह तेरी··· २६
ज्ञानजिहाज बैठि··· १
ज्ञानमय रूप··· ८९
ज्ञानमहावत डारि··· ६७
ज्यौं बजाज··· १००
ढई-सी सराय··· ६८
तीन भवन मैं··· ९५
तीरथनाथ प्रनाम··· १२
तू नित चाहत··· १९
तेज तुरंग··· ३३
दश दिन विषय··· २५
दिढ़ कर्माचल··· ९
दिढ़ शील शिरोमनि··· ५९
दिवि दीपक लोय··· ५८
दृष्टि घटी पलटी··· ३८
देखहु जोर जरा··· ४२
देखो भर जोबन··· ३५
देव-गुरु साँचे··· ४४
दोय पक्ष··· १०१
धनकारन पापिनी··· ५४
ध्यान-हुताशन··· ११
पहले भव··· ८५
पाप नाम नरपति··· ६२
प्रथम पांडवा··· ६१
बाय लगी कि··· ३१
बालपनैं न सँभार··· २९
बालपनैं बाल··· २८
मत-गुमानगिरि··· ९८
महिमा जिनवर··· १०३
मात-पिता रज··· २०
मिथ्यामत के मद··· ९७
भूल नदी के··· ९४
मोह-से महान ऊँचे··· ७६
या जगमन्दिर··· १५
ये ही छहविधि··· ४९
रहौ दूर अंतर··· १०
राग उदै जग अंध··· ६४
राग उदै भोगभाव··· १८
राय यशोधर··· ८७
रूप कौ न खोज··· ३९
लोहमई कोट··· ७३
विप्रपूत मरुभूत··· ८६
वीरहिमाचल तैं··· १४
शांति जिनेश··· ६
शीतरितु जौरैं··· १३
शीत सहैं तन··· ९०
शोभित प्रियंग··· ७
श्रीवर्म भूपति··· ८३
सकल पाप संकेत··· ५१
सज्जन जो रचे··· ८०
सतरह सै इक्यासिया··· १०७
साँचो देव सोई··· ४५
सार नर देह··· ३०
सिरीसेन आरज··· ८४
सीझे सीझैं··· १०२
सुमतिहिं तजि··· ४३
सौ हि वरष आयु··· २७


*

# हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

**आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन**

प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक/नयप्रज्ञापन
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/समाधितंत्र प्रवचन
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4/ज्ञानगोष्ठी
श्रावकधर्मप्रकाश/भक्तामर प्रवचन
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक/कारणशुद्धपर्याय

**डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन**

समयसार(ज्ञायकभावप्रबोधिनि)/समयसार का सार
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
प्रवचनसार (ज्ञायज्ञेयप्रबोधिनि)/प्रवचनसार का सार
प्रवचनसार अनु. भाग-1 से 3/णमोकार महामंत्र
चिन्तन की गहराईयाँ/सत्य की खोज/बिखरे मोती
बारह भावना : एक अनुशीलन/धर्म के दशलक्षण
बालबोध भाग 1,2,3/तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3/ध्यान का स्वरूप
आत्मा ही है शरण/सूक्तिसुधा/आत्मानुशासन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
47 शक्तियाँ और 47 नय/रक्षाबन्धन और दीपावली
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
भ. ऋषभदेव/प्रशिक्षण निर्देशिका/आप कुछ भी कहो
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/गागर में सागर
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव/जिनवरस्य नयचक्रम्
पश्चात्ताप/मैं कौन हूँ/मैं स्वयं भगवान हूँ/अर्चना
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
णमोकार एक अनुशीलन/मोक्षमार्ग प्रकाशक का सार
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्यानुवाद/योगसार पद्यानुवाद
कुन्दकुन्दशतक पद्यानुवाद/शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद

**पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन**

जान रहा हूँ देख रहा हूँ/जम्बू से जम्बूस्वामी
विदाई की बेला/जिन खोजा तिन पाईयां
ये तो सोचा ही नहीं/अहिंसा के पथ पर
सामान्य श्रावकाचार/षट्कारक अनुशीलन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
यदि चूक गये तो

**अन्य प्रकाशन**

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
बृहद जिनवाणी संग्रह/रत्नकरण्डश्रावकाचार
समयसार/प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-2 (पूर्वार्द्ध+उत्तरार्द्ध) एवं भाग3
बृहद द्रव्यसंग्रह/बारसाणुवेक्खा
नियमसार/योगसार प्रवचन/समयसार कलश
तीनलोकमंडल विधान/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मोक्षमार्ग की पूर्णता
परमभावप्रकाशक नयचक्र/पुरुषार्थसिद्धयुपाय
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार/द्रव्य संग्रह
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन/जिनेन्द्र अर्चना
सर्वोदय तीर्थ/निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
कल्पद्रुम विधान/तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/शीलवान सुदर्शन
जैन विधि-विधान/क्या मृत्यु अभिशाप है?
चौबीस तीर्थंकर पूजा/चौसठ ऋद्धि विधान
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
सत्तास्वरूप/दशलक्षण विधान/आ. कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/युगपुरुष कानजीस्वामी
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
वीर हिमाचलतैं निकसी/वस्तुस्वातंत्र्य
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में/पदार्थ-विज्ञान
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/सुख कहाँ है ?
भरत-बाहुबली नाटक/अपनत्व का विषय
सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता/अष्टपाहुड़
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति

ॐ